श्रमण संस्कृति

卐
卐卐

सम्पादक मण्डल

जैन सिद्धांत महोदधि पं. नाथूलाल जैन शास्त्री,

डा. देवेन्द्र कुमार जैन

प्रो. छोगमल जैन

मोतीलाल सुराना

★

प्रकाशक

श्री महावीर जयन्ती उत्सव समिति

म. तु. क्लाथ मार्केट, इन्दौर

★

मुद्रक

स्पूतनिक प्रिंटिंग प्रेस

१४, साउथ तुकोगंज,

इन्दौर

★

मूल्य २५ नये पैसे (लागत से अर्द्ध मूल्य में)

गति-क्रम

卐

१	हिंसा और अहिंसा	–सुधीर मुनि सुधाकर	५-८
२	भगवान महावीर के दर्शन मे निःशस्त्रीकरण	–मुनि समदर्शी	९-१६
३.	कर्मवाद	–श्री सौभाग्यमलजी	१७-२३
४	सम्यग् दृष्टि, सम्यग् दर्शन और उसकी साधना,	–मुनि श्री मल्ल	२४-३२
५	भगवान महावीर का सदेश	–श्री जिन विजयसेन सूरी	३३-४०
६.	भगवान महावीर और उनके सिद्धांत	–श्री अगरचन्द नाहटा	४१-५०
७.	क्या जैन धर्म प्रवृत्ति निषेधक है ?	–श्रीकस्तूरमल बांठिया	५१-६५
८	अहिंसा का जीवन मे महत्त्व	–श्रीकन्हैयालाल सुरड़िया	६६-६८
९.	भारतीय सस्कृति को भगवान महावीर की देन	” ”	६९-७१
१०.	महावीर जयन्ती की प्रेरणा	–श्री साधकजी	७२-७६
११.	भगवान महावीर की शिक्षा	–श्री चैनसुखदास	७७-८०
१२	भगवान महावीर की तपस्या		८१

प्राक्कथन

भगवान महावीर जयंति के शुभावसर पर हम पिछले कई वर्षों से "श्रमण-संस्कृति" का प्रकाशन कर भगवान महावीर की वाणी का प्रचार एवं प्रसार कर रहे हैं। समय एवं साधनों का अभाव होते हुए भी जो कुछ बन पड़ा– छठे पुष्प के रूप में "श्रमण-संस्कृति" की यह कृति आपको समर्पित है।

इसकी समस्त अच्छाइयों का श्रेय जहां लेखक बन्धुओं को है वहां इसमें रही त्रुटियों की समस्त जिम्मेदारी हमारी है। कृपया त्रुटियों के लिये क्षमा प्रदान करें।

लेखक बन्धुओं को धन्यवाद देने के साथ ही साथ जिन लेखों का स्थानाभाव या देरी से प्राप्त होने के कारण इसमें समावेश न हो सका, उनके लेखकों के हम क्षमा प्रार्थी भी हैं।

प्रस्तुत पुस्तक के संपादन एवं मुद्रण कार्य के सहयोगियों तथा विज्ञापनदाताओं का भी आभार मानते हैं।

चैत सुदी १३, दिनांक ३० मार्च १९६१

भवदीय

रूपचन्द धाकड़	गुलाबचन्द टोंग्या
मन्त्री	अध्यक्ष

श्री महावीर जयंति उत्सव समिति, इन्दौर (मध्यभारत)

भगवान महावीर के सम्बन्ध में कुछ ज्ञातव्य बातें

जन्म तिथि—चैत्र शुक्ला त्रयोदशी ई० पू० ५९९

जन्म समय—उषा काल

जन्म स्थान—कुण्डलपुर (कुण्ड ग्राम)

पिता का नाम—राजा सिद्धार्थ

माता का नाम—त्रिसला देवी

वंश—काश्यप (नाथवंश)

वर्ण—स्वर्ण

नाम—महावीर, वीर, अति वीर, सन्मति, वर्द्धमान

कुमार-काल—३० वर्ष

शरीर परिमाण—७ हाथ

दीक्षा तिथि—अगहन कृष्ण दशमी

साधना काल—१२ वर्ष

केवल ज्ञान—वैशाख शुक्ल १०

गणधर—११ (सर्व प्रमुख इन्द्रभूति गौतम)

निर्वाण स्थान—कार्तिक कृष्ण अमावस्या, निहानवेला

कुल आयु—७२

★

हिंसा और अहिंसा

लेखक सुधीर मुनि 'सुधाकर'

(बसन्त में प्रभात के मन्द मन्द लहराती हवा चल रही है। वाटिका के सुगन्धित पुष्पों पर भ्रमर गुंजारव कर रहे हैं। आम्र कुंजों में कोयल कुहुक रही है। ऐसे सुमधुर वातावरण में दिनेश और सुरेश दोनों साथी पारस्परिक चर्चा में खोये हुए टहल रहे हैं)

सुरेश— संसार में प्राय सभी धर्म प्रवर्तकों ने धर्म तत्वों में अहिंसा को प्रथम स्थान दिया है, किन्तु जैन धर्म के अनुसार कर्तव्य रूप में अहिंसा का पालन अन्य समाजों में नहीं रहा है। भगवान महावीर ने धर्म तत्वों में अहिंसा को प्रधानता दी है। अहिंसा पालन में ही जीवन की सफलता मानी है। स्वयं भगवान महावीर का जीवन अहिंसा का प्रति रूप था। भगवान महावीर आचरित अहिंसा का पालन वर्तमान में उन्ही के शिष्यों द्वारा जिस प्रकार से हो रहा है, वह क्या पूर्ण अहिंसा पालन कहा जा सकता है?

दिनेश— मित्र, तुमने विचार पूर्ण तथ्य भरा जो प्रश्न उपस्थित किया, यह सुनकर मैं भी अपने आप में सोचने लगा हूँ। संसार में प्राय सभी धर्मों ने अहिंसातत्व को स्वीकारा है किंतु यह स्वीकार कथन रूप में ही है। कई सम्प्रदायों में अहिंसा के नाम पर हिंसा ने ही आधिपत्य जमा रखा है। वह हिंसा भी स्थूल हिंसा जिसमें पशु वध जैसा नृशंस कार्य किया जाता है और उसे वे बतलाते हैं धर्म। धर्म अहिंसा में है या हिंसा में, इसका निर्णय होना भी दुरूह हो गया। धर्म के नाम पर खून का प्रवाह बहाते हुए भी वे अपने मनमें धर्म पालन का संतोष प्राप्त कर रहे हैं। किसी किसी समाज में तो धर्म के नाम पर मानव हत्या भी श्रेयस्कर मानी गई है। वे मानव या पशु विनाश में आत्म श्रेय का बोध प्राप्त करके अपने आप में अति प्रसन्नता का अनुभव करते हैं। किंतु हम यदि वास्तविक दृष्टि से सोचें तो धर्म के नाम पर इस प्रकार जीव हत्या करने वाले

अहिंसक नहीं हिंसक और धर्म नहीं अधर्म ही माने जाएंगे।

जिस कार्य पर आत्मा से को कष्ट हो वह हिंसा है, ऐसा सभी समाज वालों ने माना है परन्तु वे इस तथ्य से बहुत दूर रहे हुए दिखाई दे रहे हैं । इस पूर्ण अहिंसा को भगवान महावीर ने और उनके शिष्यों ने स्वीकारा एवं आचरण में भी लिया । हो सकता है काल प्रभाव से वर्तमान में भगवान महावीर के शिष्यों में उस समय जैसा अहिंसा पालन न रहा हो। यह उनकी कमजोरी है । इसी कमजोरी के कारण ही तो वर्तमान के जैनों में पूर्व काल जैसा बल नहीं रहा है ।

सुरेश— भाई, मुझे तो आज कहीं भी पूर्ण वर्णित व स्वीकृत अहिंसा पूर्ण रूप से अनुपालित दिखाई नहीं देती । जैनियों के अतिरिक्त अन्य समाजों में तो अहिंसा का रूप इन्द्र धनुष सा हो रहा है। कहीं कहीं तो मानवों ने मानव के सिवाय अन्य प्राणियों को जीव रूप ही नहीं माना है । उनकी क्षुद्र दृष्टि में मानव समुदाय ही जीव है अन्य प्राणी सभी जड़ है और उन्हें जड़ मानकर उनका संहार करने में आपत्ति ही नहीं मानते हैं । उनने मानव रक्षा तक ही अहिंसा पालन माना है तब जैनियों ने मानव के अतिरिक्त अन्य प्राणियों को नहीं सताना ही अहिंसा पालन मान लिया है। आज का जैन सूक्ष्म प्राणी की हिंसा में जितना अधर्म समझता है उतना स्थूल प्राणी की हिंसा में वह हिंसा मानता ही न हो, ऐसा दिखाई दे रहा है । दोनों ओर अहिंसा का विपर्यास हो गया है । ऐसी स्थिति में अहिंसा पालन कहां है, इसका निर्णय करना ही संदिग्ध हो गया है । मुझे तो अहिंसा के नाम पर सर्वत्र हिंसा ही हिंसा दिखाई दे रही है ।

एकान्त मानव दया भी हिंसा है और एकांत सूक्ष्म प्राणि दया भी हिंसा है । जब तक सूक्ष्म व स्थूल जीवों को जीव रूप में स्वीकार कर उन सभी की समान रूप से रक्षा के भाव न होंगे वहां तक वह अपूर्ण अहिंसा है, ऐसा हमें मानना चाहिए । भगवान महावीर ने जीव का लक्षण चेतनशील माना है। चेतना लक्षण मनुष्य के अतिरिक्त अन्य त्रस प्राणियों में तो प्रत्यक्ष है ही किन्तु सूक्ष्म प्राणियों की चेतना को भी आज के वैज्ञानिकों ने प्रत्यक्षीकरण करके स्वीकारा है । वनस्पतियों में घृणा व्यवहार से संकुचितता और सुन्दर वर्तनों से प्रसन्नता होना प्रत्यक्ष दिखाया, यह बात सभी को सुविदित ही है । इस प्रकार स्थूल व

सूक्ष्म शरीरधारियों में जीवत्व स्वीकार करने के बाद कर्त्तव्य हो जाता है कि मानव मात्र की ही नहीं अपितु प्राणियों की यथासभव रक्षा करना हम अपना कर्त्तव्य समझें।

दिनेश—शस्त्रादि उपकरणों द्वारा सूक्ष्म स्थूल जीवों का वध करना तो हिंसा है ही परन्तु भगवान महावीर ने तो त्रिविध हिंसा होना बताया है। मन, वचन व काया द्वारा हिंसा करना। काया से किसी भी प्राणी को शरीर मुक्त करना। वचन से जीव वध की प्रेरणा देना और मन द्वारा सकल्प करना। इन तीनों प्रकार से हिंसा पाप किया जाता है। तीनों प्रकार की हिंसा कार्य में जिस योग की तीव्रता होगी उतना ही तीव्र अनुबन्ध उस प्राणी को होगा। ऐसा जैन सिद्धांत है। शस्त्रादि से प्रहार करना हिंसा है और किसी की आत्मा को कष्ट हो वैसा वचन बोलना भी हिंसा है। अथवा हमारे किसी भी व्यवहार से किसी भी प्राणी को आर्थिक, पारिवारिक, शारीरिक कष्ट पहुँचाना हिंसा है। इस प्रकार भगवान महावीर ने हिंसा अहिंसा के सूक्ष्म स्वरूप को हमें समझाया है। अब आप ही कहिये कि वर्तमान में भगवान वर्णित हिंसा से बचा हुआ जैन कहीं है? मुझे तो अभी तक इस प्रकार से पूर्ण अहिंसक कहीं दिखाई नहीं दिये। त्यागी वर्ग में भी इसप्रकार की पूर्ण अहिंसा का अभाव ही नजर आया है। ऐसी स्थिति में अहिंसा व्रत की सुरक्षा कैसे रह सकेगी, यह एक गहरा प्रश्न मुह बाये हमारे सामने खड़ा है।

सुरेश—हा भाई तेने भगवान महावीर वर्णित अहिंसा का जो रूपक रखा, वह मैंने भी समझा है सत्य ही मुझे मानना पड़ेगा कि उस प्रकार से अहिंसा का पालन करने वाला आज प्राय नहीं दिखाई नहीं देता। पूर्ण पारमार्थिक भाव प्राप्त व्यक्ति ही ऐसी अहिंसा को भले पालता हो अन्यथा क्षुद्र स्वार्थ भाव से अभिभूत रहने वाला व्यक्ति तो इस उच्च अहिंसा से बहुत दूर बिलकुल ओझल ही रहता है।

वर्तमान में तो मैं जहा भी देखता हूं यहा वहां हिंसा का ताडव नृत्य ही दिख रहा है। व्यापारी अपने व्यापार में झूठ, कपट, छल द्वारा धोखाधडी करके आर्थिक नुकसान पहुँचाने में रत है तो मजदूर अपने कर्त्तव्य से दिल चुराकर आश्रय देने वालों के धन को व्यर्थ ही हड़पकर उन्हें आघात पहुँचा रहा है, कर्मचारी बिना हक्क के लाभा को प्राप्त करने के लिये लालायित होकर विविध रूप से

भ्रष्टचार द्वारा निरन्तर हिंसा को प्रश्रय दे रहा है तो खेतीहर लोग भी सूक्ष्म हिंसा ही नहीं अपितु स्थूल हिंसा द्वारा अपने मन में आत्म प्रसन्नता का अनुभव कर रहे हैं। इस प्रकार मनुष्य मात्र में हिंसा ही हिंसा ने घर करके सभी हृदय को कुण्ठित बना दिया है। भला ऐसे विपरीति समयमें अहिंसा का समादरण होना कैसे सुलभ हो सकता है।

महात्मा गाँधीजी ने इस भारत में अहिंसा पालन की भूमिका का सर्जन किया परन्तु आज उन्हीं के अनुयायियों ने इस भारत मे हिंसा को इतना प्रश्रय दे दिया है कि इस भारत को हम अहिंसक भारत कहें या हिंसक भारत कहें ? बूचड़ खानों की सख्या व बूचडखानों मे प्राणी वध की संख्या प्रतदिन बढ़ती जा रही है। मुर्गी पालन, मत्स्य उद्योग को अर्थ विकास का साधन बनाया गया है। इस प्रकार समग्र भारत में अहिंसा का नाश करके हिंसा के उद्योग बढ़ाये जा रहे हैं। गाय, भैंस, बैल, बकरी, मुर्गे मुर्गी, इण्डे, मच्छी एवं बंदर आदि प्राणियों के करुण-क्रन्दन से भारत गुंजित हो रहा है। पूर्व के समय में यज्ञों में हजारों पशु होमे जाते थे, उस समय भगवानमहावीर ने उस हिंसा का प्रबल विरोध किया और उस घोर हिंसा के प्रचार को रोका। आज भी भगवान महावीर की तरह इस बढ़ी हुई हिंसा का अवरोधन करने के लिये महान शक्ति की जरूरत है। दिनेश, तेरे हृदय के भावों का मैं सम्मान करता हू और मैं अन्तरभावों से प्रार्थना करता हू कि भारत में ही नहीं अपितु सारे संसार से हिंसा दूर हो और अहिंसा का साम्राज्य हो।

दिनेश—भाई सुरेश तेरे अंतर भावों की सफलता हो यही प्रार्थना है।

(दोनों मित्र वाटिका से अपने गृह की ओर उपस्थित हुए।

भगवान महावीर के दर्शन में—

निःशस्त्रीकरण

लेखक
मुनि समदर्शी

★

युद्ध सदा से मानव को परेशान करता रहा है। यह मानव मन में अशान्ति एवं भय की आग प्रज्वलित करता है और सारा विश्व उससे सन्तप्त होता है। उसकी चिनगारियें दसों दिशाओं में उछलती हैं, उसकी लपटें संसार के हर कोने को घेर लेती हैं। इस तरह युद्ध के समय सारे संसार में भय का वातावरण फैल जाता है। अतः युद्ध मानव जाति के लिये सदा अभिशाप रहा है और जनता ने सदा युद्ध का विरोध किया है।

आज तो सारा संसार युद्ध से भयभीत है। विश्व युद्ध का नाम सुनते ही मानव मन सिहर उठता है। विश्व के किसी भी भूभाग पर होने वाला युद्ध पूरे विश्व को सन्त्रस्त कर देता है। आज अणु के विनाशकारी ताण्डव को देखकर वैज्ञानिक एवं राजनीतिज्ञ भी घबरा रहे हैं। यह स्पष्ट है कि कुछ राष्ट्रों ने अपने सामने सिर ऊंचा करने वाले राष्ट्रों के अभिमान को कुचलने के लिये और कमजोर राष्ट्रों को अपने अधीन बनाए रखने के लिये अणु एवं उद्जन बमों का निर्माण किया, परंतु वह महाराक्षस आज उन्हीं के सिर पर बैठा है। विश्व के माने हुए बड़े राष्ट्रों के वरिष्ठ राजनेताओं एवं वैज्ञानिकों के लिये यह सिरदर्द बन गया है। विराट शक्ति सम्पन्न एवं विनाशक शस्त्रास्त्रों के भंडार से परिपूर्ण राष्ट्र भी आज अपने आपको अरक्षित सा पा रहे हैं। रूस की सामरिक शक्ति को बढ़ते देख कर अमेरिका परेशान है और अमेरिका को शस्त्रों की दौड़ में पीछे रखने के लिये रूस बेतहाशा दौड़ लगा रहा है। दोनों को एक दूसरे की मारक एवं विध्वंसक शक्ति से डर है, भय है।

आज शस्त्रों का विनाशकारी परिणाम सबके सामने है, फिर भी वरिष्ठ राजनेता इसके गंभीर परिणामों की उपेक्षा करके शस्त्रों की विध्वंसक शक्ति को बढ़ाने में व्यस्त हैं। वे जानबूझ कर

आग में कूदने का प्रयत्न कर रहे हैं। विनाश सामने है और उससे बचना चाहते हैं, परन्तु बचाव का सही रास्ता नहीं पा रहे हैं। ऐसे विकट उलझन के समय भारत ने महा अंधकार को नष्ट करने के लिये प्रकाश की किरणें दीं। मानव जाति की सुरक्षा के लिये भारत ने युद्ध की अनिवार्यता के सिद्धांत को गलत बताया और आणविक परीक्षणों को तुरन्त रोकने एवं उन पर प्रतिबन्ध लगाने की मांग की। भारत की इस आग्रहपूर्ण आवाज को अन्य राष्ट्रों का भी सहयोग मिला चीन, रूस, चेकोस्लाविया एवं बाडुंग में हुए एशिया अफ्रीकी देशों के सम्मेलन का भी इसे समर्थन मिला और इस विचार-धारा ने वरिष्ठ राजनेताओं एवं वैज्ञानिकों को भी इस पर पुनः सोचने के लिये विवश किया। जिसके परिणामस्वरूप अणुआयुधों तथा तोपास्त्रों को शांति एवं सुरक्षा का साधन मानने वाले राष्ट्र भी अब अपनी भूल समझने एवं मानने लगे हैं। वे यह समझ रहे हैं कि शस्त्रों का उत्पादन बढ़ाना तथा उनकी मारकशक्ति का विकास करना विश्व के लिये ही नहीं, बल्कि अपने देश के लिये भी बड़ा भारी खतरा है। आणविक युद्ध के भयानक परिणामों ने राजनीतिज्ञों के सुप्तविवेक को जागृत कर दिया है। अब वे इस बात का अनुभव करने लगे हैं कि अणु-शस्त्रों का निर्माण विश्व के लिये अभिशाप है और इसके साथ ही युद्ध की अनिवार्यता का सिद्धांत भी गलत माना जाने लगा है। इसी विराट एवं शांत विचारधारा में से निश्शस्त्रीकरण की योजना का प्रादुर्भाव हुआ।

भारत सदा से अहिंसा का आराधक रहा है। आज से ढाई हजार वर्ष पहले श्रमण भगवान महावीर ने यह आघोष किया था कि 'हिंसा ही ग्रंथि गांठ है, यही मोह है, यही मृत्यु और यही नरक है। जीव हिंसा अपनी हिंसा है। और जीव दया या जीव रक्षा अपनी दया है।

अहिंसा का पूर्ण साक्षात्कार करने के लिये भगवान महावीर ने साढे बारह वर्ष तक कठोर तप साधना की और उसका प्रत्यक्ष दर्शन करने अर्थात् केवल ज्ञान प्राप्त करने के पश्चात् उन्होंने अपने पहले प्रवचन में मानव को शस्त्र-परिज्ञा, शस्त्रों की भयंकरता एवं उससे बढ़ने वाले वैर-विरोध के दुःखद एवं हानिप्रद परिणामों को बताकर मनुष्य को निश्शस्त्र शस्त्र रहित बनने का उपदेश दिया अस्तु निश्शस्त्रीकरण की योजना भारत

के लिये नई नहीं है। शताब्दियों एवं सहस्राब्दियों पहले इसका भारत में निर्माण हो चुका था। भगवान महावीर की तरह उनके समकालीन विचारक भगवान बुद्ध ने भी युद्ध को अभिशाप बताया और यह कहा था "वैर से वैर की अभिवृद्धि होती है।" अस्तु किसी व्यक्ति एवं राष्ट्र का विनाश करके विश्व में शांति स्थापित करने का प्रयत्न करना बहुत बड़ा भारी पागलपन है।

भगवान महावीर का कहना है-हर प्राणी शांति चाहता है, जीने की अभिलाषा रखता है, सुख पाने का इच्छुक है। क्योंकि यह उसका निजी स्वभाव है। दुःख, अशान्ति एवं मृत्यु को कोई नहीं चाहता। वस्तुतः अशान्ति एक विकृति है और उसकी उत्पत्ति का मूल कारण शस्त्र है। शस्त्र भी दो प्रकार के हैं-एक द्रव्य शस्त्र और दूसरे भाव शस्त्र। द्रव्य शस्त्रों का उत्पादन एवं प्रयोग प्रायः भाव शस्त्रों पर आधारित है। भाव शस्त्रों के अभाव में द्रव्य शस्त्रों का कोई महत्व नहीं रह जाता, वे दुनिया का या प्राणी जगत का थोड़ा-सा भी अहित नहीं कर सकते। हम सुन चुके हैं कि भरत और बाहुबली के बीच हो रहे युद्ध में भरत के विनाश के लिए बाहुबली ने अपनी मुष्टि उठाई। परन्तु, भरत पर अपनी मुष्टि का प्रहार करने के पहले ही उसकी विचारधारा बदल गई और उसने भाव शस्त्रों का परित्याग कर दिया। और भाव शस्त्र का त्याग करते ही वह विनाशकारी मुष्टि भरत के विनाश का कारण न होकर बाहुबली के आत्म विकास का साधन बन गई। वह महापुरुष युद्ध से निवृत्त होकर साधना के पथ पर बढ़ चला। इस तरह हम देख चुके हैं कि व्यक्तिगत जीवन से लेकर राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय जीवन तक में अशान्ति पैदा करने वाले भाव शस्त्र ही हैं।

भाव शस्त्र अनेक प्रकार के हैं। परन्तु, सभी भाव शस्त्रों में भय का स्थान प्रमुख है। भय की स्थिति में कोई भी प्राणी आत्म-शांति की अनुभूति नहीं कर सकता। इसलिए भगवान महावीर ने साधक के लिए भय से निवृत्त होना आवश्यक बताया है। भय में मिथ्यात्व की झलक रहती है।

काम-क्रोध, वैर-विरोध एवं मान, माया, लोभ आदि मनोविकारों की आग उसी व्यक्ति के अन्तर्गत में प्रज्वलित होती है, जिसके मन में प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से भय रहा हुआ है। सिंह जैसा क्रूर एवं ताकतवर हिंस

जन्तु—जो वनराज कहलाता है, चलते समय सदा पीछे की ओर देखता रहता है। तीक्ष्ण दांतों एवं नाखूनों के शस्त्रों से संयुक्त होकर भी वह सदा भयभीत रहता है। क्योंकि, वह सदा-सर्वदा दूसरे प्राणियों को भय एवं त्रास देता है और इसी कारण वह सदा दूसरों से भयभीत रहता है। हर कदम आगे रखते हुए भी सिंह के द्वारा निरन्तर पीछे की ओर देखना यह स्पष्ट करता है कि जहां शस्त्र है, वहां भय है और भय के साथ वहां अशान्ति का भी साम्राज्य रहता है।

सूर्य के उजेले की तरह यह स्पष्ट है कि भय से मानव में प्रतिशोध की ज्वाला प्रज्वलित होती है। और उसके परिणाम स्वरूप विध्वंसक शस्त्रों का उत्पादन बढ़ता है तथा उसकी विध्वंसक शक्ति को बढ़ाने की खोज की जाती है तथा नए मारक शस्त्रों का आविष्कार किया जाता है। पाषाण युग से लेकर आणविक बमों, नेप्पास्त्रों एवं रॉकेटों तक के निर्माण का इतिहास इसी कलुषित भावना पर आधारित है। भय तथा उससे उत्पन्न हुए मनोविकारों ने ही मानव जाति को आज विनाश के कगारे पर ला खड़ा किया है।

संघर्ष का मूल भाव शस्त्र में निहित है और उसी भाव शस्त्र के अनुरूप द्रव्य शस्त्र का प्रयोग होता है। द्रव्य शस्त्र असभ्य व्यवहार एवं अपशब्दों से लेकर आणविक शस्त्रों तक विस्तृत है। जैन आगम की दृष्टि से कुलकरों के शासनकाल में पहले पहल हकार, मकार और धिक्कार तीन तरह की दण्ड व्यवस्था चालू हुई। उसके बाद मानव मन में ज्यों ज्यों विकार बढ़ते गए त्यों-त्यों शस्त्रों की बाढ़ भी बढ़ती गई और तिरस्कार जन्य शब्दों की जगह धीरे धीरे चपत, डंडे एवं तलवार से लेकर रॉकेट, अणु आयुध और नेप्पास्त्रों ने ले ली। अभी कुछ दिन पहले हमने समाचार पत्रों में पढ़ा कि जापान के विशाल नगर हिरोशिमा और नागाशाकी पर अमेरिका द्वारा गिराए गए अणु बम्ब की ताकत से १०० गुना अधिक शक्तिशाली अणु बम्ब भी आज अमेरिका के पास है। और खूबी यह है कि इन सबका निर्माण एवं प्रयोग करते समय सदा शान्ति की दुहाई दी जाती रही है और आज भी दी जाती है। फिर भी विश्व में शान्ति नहीं हो पा रही है। इतिहास इस बात का साक्षी है कि शस्त्र बल से शान्ति बनाए रखने में मानव सदा असफल रहा है। उसने

ज्यों-ज्यों हथियार बढ़ते गये त्यों-त्यों विश्व में अशान्ति भी बढ़ती ही गई। 'मर्ज बढ़ता ही गया ज्यों-ज्यों दवा की।'

एक बालक ग्रीष्म ऋतु में दोपहर के समय स्कूल से घर आया। उसका सारा शरीर पसीने से तरबतर हो रहा था। पसीना सुखाने के लिए वह नंगे बदन धूप में जा खड़ा हुआ। माता ने साश्चर्य पूछा-'क्या कर रहा है।' उत्तर मिला-'शरीर का पसीना सुखा रहा हूँ।' 'अरे पागल! धूप में भी कभी पसीना सूखता है?' बालक ने तर्क की भाषा में कहा-'जब पानी से भीगा हुआ वस्त्र धूप में सूख जाता है तब मेरा पसीने से भीगा हुआ शरीर क्यों नहीं सूखेगा? हैं तो दोनों ही तरल पदार्थ।' माता ने प्यार भरे शब्दों में कहा- वत्स, तू भूल रहा है। पसीना और पानी तरल होने पर एक नहीं, दो भिन्न पदार्थ हैं। पसीना धूप एवं गर्मी के कारण मनुष्य के शरीर में से निकलता है, परन्तु पानी वस्त्र से नहीं निकलता। यही कारण है कि धूप पानी को सोख लेती है, परन्तु पसीने को नहीं सुखा पाती। क्योंकि, वह तो धूप की गर्मी से और अधिक निकलेगा और जब तक उसका कारण विद्यमान रहेगा, तब तक वह सूख नहीं सकता।'

यह तो एक बात है। आज कोई बालक ऐसी भूल करता हो, ऐसा नहीं जान पड़ता। परन्तु, बड़े-बड़े वैज्ञानिक, आविष्कारक एवं राजनीतिज्ञ तथा समाज नेता और धर्म गुरु आज भी ऐसी भयंकर भूल कर रहे हैं। विश्व के वरिष्ठ राजनेता एवं धर्म गुरु अशान्ति की आग को बुझाना चाहते हैं, शस्त्रों का पेट्रोल डाल कर। वे दूध के उफान को शान्त करना चाहते हैं, उसके नीचे दहकते हुए कोयले रखकर। फलतः, शान्ति हो भी तो कैसे हो? आज विभिन्न पार्टियों सम्प्रदायों, पन्थों के नेताओं एवं धर्म गुरुओं में चलने वाला वाग्युद्ध, अखबारी एवं पेम्फलेटी संघर्ष इसी अज्ञान का फल है। वे शासन करना चाहते हैं, प्यार से नहीं डंडे की शक्ति से। वे समस्याओं को सुलझाना चाहते हैं, तिरस्कार अन्य अपशब्दों का प्रयोग करके। वे एकता बनाना तथा कायम रखना चाहते हैं, व्यक्ति स्वातन्त्र्य को कुचलकर। इसी कारण आज वे अपने सीमित दायरे में शान्ति बनाए रखने में भी असफल हो रहे हैं और उन्हीं के हठाग्रह के कारण शान्ति का प्रतीक धर्म भी संघर्ष का अखाड़ा सा बन रहा है।

महामानव महावीर के

भी यही प्रश्न था। चारों ओर अशान्ति की आग जल रही थी। धर्म के नाम पर हिंसा हो रही थी, मानव का घोर अपमान किया जा रहा था। उस समय उस महापुरुष ने करुणा एवं अहिंसा की अजस्र धारा बहाई। सबके साथ प्रेम करना सिखाया। एक-दूसरे के विचारों का आदर करना सिखाया। उसने कहा—"जहां अपमान एवं तिरस्कार की भावना है, वहीं संघर्ष है, अशान्ति है। धर्म अपमान करना नहीं सिखाता, वह तो सम्मान करना सिखाता है, शत्रु से भी प्रेम करना सिखाता है।" जो धर्म अपने अतिरिक्त अन्य को हेय बताता है, वह धर्म नहीं और युद्ध है। उससे शान्ति नहीं मिल सकती। शान्ति के लिए सबसे पहले भाव शस्त्र का परित्याग करना अनिवार्य है। क्योंकि, "शस्त्रों में तीक्ष्णता है, एक से एक बढ़कर भयंकर शस्त्रास्त्रों का निर्माण होता है और उससे मानव मन में भय बढ़ता है और भय से मन में प्रतिशोध की भावना जागृत होती है तथा अन्य मनोविकारों में अभिवृद्धि होती है और उससे अशान्ति बढ़ती है। परन्तु अशस्त्र—अहिंसा में तीक्ष्णता नहीं समरसता है। उससे जीवन में निर्भयता का भाव जागृत होता है, प्रेम-स्नेह एवं दया की सरिता प्रवहमान होती है। इसलिये शस्त्र त्याग से ही शान्ति हो सकती है। शान्ति का मूल मन्त्र है-निर्भय होना—स्वयं निर्भय बनकर दूसरों को अभयदान देना और सबके साथ प्रेम, स्नेह, सहयोग एवं समानता का व्यवहार करना।"

इस तरह हमने देखा कि द्रव्य एवं भाव शस्त्र से संत्रस्त मानव को भगवान महावीर ने एक अभिनव दृष्टि दी और महात्मा गांधी ने उसका राजनैतिक क्षेत्र में सफल प्रयोग किया। बिना शस्त्र बल के केवल अहिंसा एवं प्रेम की ताकत से भारत को परतन्त्रता की लौह शृंखला से मुक्त कराकर महात्मा गांधी ने यह स्पष्ट कर दिया कि अहिंसा एवं निरशस्त्र भावना से सारे संसार में शान्ति स्थापित की जा सकती है। शस्त्रों की अपेक्षा प्रेम में अधिक शक्ति है। शस्त्रों से आपस में कटुता बढ़ती है और प्रेम स्नेह से भाई चारे की भावना में अभिवृद्धि होती है। यह भारतीय संस्कृति की सहज देन है।

भारत में निरशस्त्रीकरण की भावना का निरन्तर विकास होता रहा है। भगवान महावीर और बुद्ध से लेकर महात्मा गांधी, आचार्य जवाहर और सन्त विनोबा तक निशस्त्र भावना का विक्रम

हुआ तथा आचरण में इसकी व्यापकता बढ़ते-बढ़ते आज राजनैतिक क्षेत्र में भी पहुँच गई है। सुदूर प्रिय राष्ट्र भी आज महावीर, तथागत बुद्ध, महात्मा गांधी और सन्त विनोबा की भाषा में बोलने लगे हैं। यह सूर्य के उजेले की तरह साफ हो गया है कि निरस्त्रीकरण और भाई चारे की सद्भावना से ही विश्व में शान्ति स्थापित हो सकती है। भारत के प्रधान मंत्री पं० जवाहरलाल नेहरू ने ६-१-५८ को मद्रास में हुई "भारतीय विज्ञान कांग्रेस" में भाषण देते हुए कहा था—"आज वैज्ञानिकों को संत, महात्मा और ऋषियों के करुणा, अहिंसा आदि गुण अपनाने चाहिए। संसार के बड़े राष्ट्रों से अणु परीक्षण बन्द करने के लिए की गई अपनी एक अपील में भी नेहरूजी ने बड़े मार्मिक शब्दों में कहा था—"विश्व के प्रत्येक प्राणी को जीवित रहने, उन्नति करने और अपने लक्ष्य की प्राप्ति करने का अधिकार है। समग्र संसार के लोगों को शान्ति और सुरक्षा का भी अधिकार है। इस अधिकार का उपयोग वे केवल शान्तिपूर्ण ढंग से रहकर और अपनी समस्याओं को शान्तिपूर्ण ढंग से सुलझाकर ही कर सकते हैं। उनमें धर्म, मान्यताएं और विचार सम्बन्धी विभिन्नताएं हैं। वे एक दूसरे को शक्ति द्वारा नहीं बदल सकते। इस प्रकार का प्रयत्न पतन की ओर ले जाएगा। इतनी विभिन्नताओं के बावजूद शांति पूर्ण ढंग से जीवित रहने के लिए हमें घृणा, द्वेष एवं शक्ति (शस्त्रों) की नीति का आसरा छोड़ देना पड़ेगा। नैतिकता का भी यही तकाजा है और उससे भी अधिक हमारी व्यावहारिक सामान्य बुद्धि भी इसी ओर इंगित करती है।"

अपनी १६५६ की अमेरिका की यात्रा के समय U. N. O. के अधिवेशन में रूस के प्रधान मंत्री ख़ुश्चेव ने अपने भाषण में निरशस्त्रीकरण पर जोर दिया था और निरशस्त्रीकरण के लिए रखे गए प्रस्ताव में दुनिया के सभी ताकतवर राष्ट्रों से यह अपील की थी कि "अणु आयुधों के परीक्षण तुरन्त बन्द कर दिए जाएं, उनका नया निर्माण नहीं किया जाए, पहले के निर्मित आणविक शस्त्रों को नष्ट कर दिया जाए और वायु सेना, जल सेना, एवं स्थल सेना आदि सेनाओं को समाप्त कर दिया जाए एवं सभी संधियों को तोड़ दिया जाए।" उन्होंने यह भी कहा था कि तमाम शस्त्रों एवं सेनाओं को समाप्त किए बिना तथा सभी तरह की सैनिक संधियों को तोड़े बिना

विश्व में शांति स्थापित नहीं हो सकती।"

यह हम देख चुके हैं कि युद्ध का मूल कारण भय और अविश्वास है। चाहे वह युद्ध दो राष्ट्रों के बीच हो या दो व्यक्तियों के बीच। आजकल देश में चलने वाला भाषा विवाद, प्रान्तवाद या साम्प्रदायिक संघर्ष भी इसी कलुषित भावना का दुष्परिणाम है। दोनों ओर भय और अविश्वास है और इसी भय ने संघर्ष को जन्म दिया है।

इन सब संघर्षों से छुटकारा पाने का एक ही रास्ता है निशस्त्रीकरण। केवल द्रव्य शस्त्रों तथा आणविक आयुधों पर प्रतिबन्ध ही नहीं, बल्कि भाव शस्त्रों का त्याग भी आवश्यक है। प्रेम और स्नेह की भावना का विस्तार करके ही मानव विश्व शांति की सरिता बहा सकता है। काश, आज महावीर जयन्ती के पुनीत अवसर पर हम अपने जीवन में प्रेम और स्नेह को साकार रूप दे सकें।

ॐ शान्ति ! शान्ति !! शान्ति !!!

卐 आदि नमन 卐

॥ श्री वीर प्रभु को आदि नमन कर ॥ मस्तक पद पंकज में धर ॥
॥ विनय सदा प्रभु निकट करें ॥धृ॥ यह शासन शासित चिरकाल हो ॥
॥ धर्म प्रभावित विश्व करें ॥ दुष्ट ताप मुक्त कषाय रिपु को ॥
॥ निष्प्रभ कर अनुताप हरें ॥ निश्चय यह हम आज करें ॥

—डा. लक्ष्मणसिंह चौधरी
(देवास)

★ ★ ★

श्रमण संस्कृति की विशिष्ट देन

कर्मवाद

प्रवचनकार
श्री सौभाग्यमल जी महाराज
प्रसिद्ध वक्ता

सम्पादक
श्री मनोहर मुनिजी 'शास्त्री'
'साहित्यरत्न'

हजारों माइलों का यह विस्तृत भूखण्ड विचित्रताओं का आगार है विविधता और विचित्रता में ही सृष्टि की सुषमा है पर एक प्रश्न है विश्व को विचित्रता दी किसने। श्रद्धालु मानस बोल उठेगा यह सृष्टि का विचित्रता भरा सौन्दर्य उस अनन्त शक्तिमान करुणामय की देन है, किंतु यह उत्तर जितना सरल है तर्क की तुला पर उतना ही पेचीदा बन जाता है क्योंकि इसके सामने पहला ही प्रश्न आता है। 'उस विराट शक्तिमान करुणामय ने अपनी सृष्टि में सुन्दर भव्य आकृतियां सजाई हैं तो उसे दूसरी ओर काली कुरूप और बीभत्स आकृतियां सजाने की आवश्यकता ही क्या थी?' उक्त आकृतियों के निर्माण में करुणामय की करुणा पर एक प्रश्न चिह्न लग जाता है।

विश्व की विचित्रता का रहस्य जानने के लिये हमें उसे दो रूप में बांटना होगा। एक प्राकृतिक दूसरी प्राणि जन्य। प्रकृति का विचित्रता भरा सौन्दर्य स्वभाव गत है। सूर्य पूर्व में ही उदित होता है, पश्चिम में क्यों नहीं? आम ग्रीष्म में ही आता है शीतकाल में क्यों नहीं? गहूं की फली लंबी और दानदार होती है ऐसी जुआर की क्यों नहीं? जैसे मयूर के पंख रंगे गये हैं वैसे कुकुट के क्यों नहीं? इन सब का समाधान तर्क के पास नहीं है क्योंकि यह सब स्वभावगत है।

किंतु प्राणीजन्य विचित्रता का समाधान स्वभाव से नहीं हो सकता। क्योंकि दो भाइयों में स्वभावगत समानता होने पर भी उनमें बुद्धिकृत भेद रहता है। एक भाई एक घण्टे में दस श्लोक याद कर सकता है जबकि दूसरा दस घण्टे में भी एक श्लोक याद नहीं कर सकता। दूसरी ओर एक समान रोगियों को डाक्टर एक ही प्रकार की दवा देता है फिरभी एक स्वास्थ्य लाभ [illegible] लेता है जबकि

दूसरे का रोग यदि पाता है। इस का समाधान स्वभाव के पास नहीं कर्मवाद के पास है।

बुद्धिकृत भेद का उत्तर कर्मवाद यों देता है कि चेतना शक्ति समान होने पर भी जिस व्यक्ति ने ज्ञान की अवहेलना की है, ज्ञान सम्पन्न पुरुषों का तिरस्कार किया है। उसके ये कार्य कर्मवर्गणा के सूक्ष्म परमाणुओं को आकर्षित करते हैं और वे कर्मपुद्गल उसकी ज्ञान चेतना को अवरुद्ध कर देते हैं यही है बुद्धिकृत भेद का रहस्य।

इसी प्रकार जिस व्यक्ति ने दूसरे के हितों को कुचला है, उसे उत्पीडित किया है उसने भी तज्जन्य वेदनीय कर्म एकत्रित किये हैं अत जब तक वे कर्म उपस्थित हैं तब तक स्वास्थ्य प्राप्त नहीं हो सकता फिर चाहे कितने भी इन्जेक्शन क्यों न लिये जायें।

आत्मा आज जो भी शुभ या अशुभ का अनुभव करता है यह उसके पूर्वबद्ध कर्मों का प्रतिफल है वर्तमान दुःख का कारण हमें वर्तमान में भले ना दिखाई दे, किन्तु इसका मतलब यह नहीं हो सकता कि उसका कारण है ही नहीं जिस आम को आज हम खाते हैं उसके बोने वाले का नाम पता भले ही आज न बता सकें किंतु इतना तो सुनिश्चित है कि यह आम किसी न किसी के द्वारा एक दिन अवश्य बोया गया था और आज वह फल और पत्तों से समृद्ध है। यही कार्य कारण परंपरा हमारे सुख-दुःख के लिये भी है। यह निश्चित सिद्धांत है जैसा बीज बोया वैसा ही प्रतिफल होगा। बाजरी बोकर कभी चावल की फसल नहीं काटी जा सकती और प्याज खाकर इलायची की डकार नहीं ली जा सकती। ध्वनि के अनुरूप ही प्रतिध्वनि आएगी। इसी प्रकार कर्म की रेखाओं को मिटाया नहीं जा सकता।

दुर्भाग्य हमारा धन छीन सकता है। नीचता हमारा यश समाप्त कर सकती है संकट हमारा ओज हर लेता है। रोग हमारा स्वास्थ्य बिगाड़ देता है और मृत्यु हमारा मित्र छीन सकती है किन्तु हमारे कर्म तो मृत्यु के बाद भी हमारा पीछा करेंगे उन्हें कोई छीन नहीं सकता। श्रमण भगवान महावीर ने एक दिन इसी महान सत्य का उद्घोष किया था।

सुचिण्णा कम्मा सुचिण्णा फला भवन्ति
दुचिण्णा कम्मा दुचिण्णा फला भवन्ति

सुन्दर कर्मों का प्रतिफल सुन्दर

होता है और बुरे कर्मों का प्रति फल सदैव असुंदर ही होगा। समय और स्थान बदल देने से कर्म नहीं बदल सकते सोना महल में रहे या श्मशान में सर्वत्र एक समान रहेगा। यदि श्मशान की छाया से वह पीतल बन जाये तो उसे सोना कौन कहेगा ? मिश्री को हम्बी गंगा के तट पर खाए तब भी मीठी रहेगी और सूने जंगल में खाएं तब भी मीठी रहेगी। स्थान बदल देने से उसके मिठास में अन्तर नहीं आ सकता। इसी प्रकार शुभ कर्म सर्वत्र शुभ ही रहेंगे और अशुभ कर्म सर्वत्र अशुभ ही रहेंगे। मलेरिया का बीमार स्वर्ण महल में चला जाए तब भी शांति नहीं मिल सकती। शांति तभी मिलेगी जबकि वह रोग मुक्त होगा। इसीप्रकार वासना से पूरित आत्मा स्वर्ग के महलों में पहुँचकर भी शांति नहीं पा सकता क्योंकि कर्म के कीटाणु उसके साथ रहे हुए हैं।

आत्मा की अशान्ति का मूल हेतु कर्म हैं। ये ही उसे चतुर्गति में परिभ्रमण कराते हैं। जन्म और मृत्यु के मूल हेतु कर्म हैं। आत्मा स्वकृत कर्मों से अनुबन्द होकर परलोक में गमन करता है और पुन अपने ही कर्मों से बध्द होकर नया भव धारण करता है। इस प्रकार जन्म और मृत्यु की परम्परा चालू रहती है।‡ आत्मा के शुभ और अशुभ कर्म ही जन्म मृत्यु के बीज हैं। कर्म का अनुबद्ध ही भव परम्परा में परिभ्रमण कराता है। सही अर्थों में देखा जाय तो नरक और स्वर्ग का निर्माता स्वयं आत्मा ही है।

द्रव्य कर्म और भाव कर्म

कर्म फिलासफी की गहराई में प्रवेश करते हैं तो वहाँ हमें कर्म के दो रूप मिलते हैं एक द्रव्य कर्म और दूसरा भाव कर्म। कर्म वर्गणा के सूक्ष्म पुद्गल द्रव्य कर्म हैं किन्तु उन्हें आकर्षित करने वाला, आत्मा के साथ उन्हें जोड़ने वाला भाव कर्म है आत्मा की अशुभ परिणतियाँ भावकर्म हैं। ये ही द्रव्य कर्म को एकत्रित करती हैं। हम जो भी शुभ या अशुभ विचार करते हैं वे ही सही अर्थों में हमें बांधने वाले कर्म हैं। उन विचारों में जितनी अच्छाई होगी उतने ही वे शुभ कर्मों को आकृष्ट करेंगी। उसी के अनुरूप वे कर्म अपना मधुर रस देंगे। द्रव्य कर्म आत्मा से चिपकने के बाद चार रूप में विभक्त हो

‡ गच्छन्ति कम्मेहिं सेणुबन्दे पुणरवि आयाति से सर्व करेणं
जम्म मरणाइ अट्टो पुणरवि आयाइ से सकम्म सिन्ने
—अग्गिवेसियपुत्त अर्हतर्षि इसिभासियाइं अ. २ गा ३

जाता है प्रकृति बन्ध, स्थितिबन्ध, अनुभागबन्ध और प्रदेशबन्ध* हर कर्म द्रव्य अपना विशिष्ट स्वभाव रखता है। क्योंकि पुद्गल में स्वभाव पार्थक्य रहता है। मिश्री मधुर होती है और मिर्च तीखी यह उनका स्वभाव भेद है। कर्म भी पुद्गल है उनमें भी स्वभाव भेद होता है कोई कर्म आत्मा के ज्ञान अंश को अवरुद्ध करता है कोई सामान्य बोध की शक्ति (दर्शन) को रोकता है। कोई उसे सुख दुखात्मक अनुभूति कराता है कोई उसकी सही समझ और सही आचरण में विकृति लाता है। कोई उसे अमुक रूप में अमुक काल मर्यादातक रहने के लिये बाध्य करता है कोई उसे चित्र विचित्र रूप प्रदान करता है कोई उसे उच्च और नीच रूप प्रदान करता है तो कोई कर्म उसकी शक्ति को अवरुद्ध करता है।

स्थिति बन्ध के अनुसार बद्ध कर्म आत्मा के साथ कितने समय तक रहेंगे। वह काल मर्यादा स्थितिबन्ध कहलाती है। वह अनुभाग बन्ध कर्म पुद्गलों की रसदायिनी शक्ति है। जो आत्मा जितनी आसक्ति से हिंसात्मक क्रिया करता है। उस समय जो कर्म बन्धते हैं वे उतने ही तीव्र कटु रूप में उदित होते हैं। और जो मन्द आसक्ति से बांधे जाते हैं उनका बन्ध अल्प रूप में होता है। और विपाकोदय में उनका कटु रस भी अल्प होता है। प्रदेश बन्ध आत्मा योग विशेष के द्वारा सभी आत्म प्रदेशों से कर्म प्रदेशों को ग्रहण करता है यही प्रदेश बन्ध है। वे कर्म पुद्गल अनन्त राशि के रूप में ही ग्रहण किये जाते हैं किन्तु उनमें भी तरतम भाव तो होता ही है †।

मनादियोगों के द्वारा प्रकृति और प्रदेश बन्ध होता है। किन्तु कर्मों का रस और स्थिति बन्ध कषाय के द्वारा होता है ‡। हवा चलती है तो धूल उड़ती ही किन्तु वह धूल चिकने कपड़े पर लगी तो उसका निकालना उतना ही दूभर हो जायगा जैसे ही जब तक योग सक्रिय है तब तक कर्म धूल उड़ती

---

* पयडी ठिइ अणुभागप्पदेस भेदा दु चदुविधोबन्धो।
द्रव्य संग्रह ३३

† नामप्रत्ययाः सर्वतो योग विशेषात् सूक्ष्मैक क्षेत्रावगाहस्थिताः सर्वात्म प्रदेशेष्वनन्तानन्त प्रदेशाः। तत्वार्थ सूत्र अ.८ सू. २४

‡ जोगा पयडि पदेसा ठिइ अणुभागा कसायदो होंति।

रहेगी किंतु कषाय की चिरसम आत्मा में है तो वहां वह धूल मजबूती से चिपकती है । कषाय ही बन्ध का मूल हेतु है ‡। कषाय रहित आत्मा को कोई भी बांधने में समर्थ नहीं है किन्तु यदि भीतर कषाय का वेग प्रवाहित है तो विश्व की कोई भी शक्ति उसे मुक्त करने में समर्थ नहीं है।

मनोविज्ञान और कर्मवाद

आज का मानस शास्त्र बोलता है मनुष्य की भावनाएं वेगवती होती हैं। मन के परमाणु गति शील होते हैं वे दूसरे पर प्रभाव भी डाल सकते हैं, दूसरे को आक र्षित कर सकते हैं। मन के अशुभ परमाणु एक तरंग छोड़ते हैं जो दूसरे तक पहुँच कर उसके मन में भी द्वेष की तरंग पैदा कर देते हैं कर्मवाद भी मन की शक्ति का प्रबल समर्थक है । कर्मों को आकृष्ट करने में मन का भाग प्रमुख रहता है §। साधारण वर्ग क्रिया को ही पुण्य पाप की कसौटी मानता है जबकि विचारशील जगत में मन को ही पुण्य पाप की तराजू माना गया है। मन के शुभ परमाणुओं के द्वारा जो क्रिया होती है वह शुभ होती है और अशुभ विचारों के द्वारा की गई शुभ क्रिया भी अशुभ होती है।

विभिन्न दर्शनों में कर्म के विभिन्न रूप

कर्म शब्द के विभिन्न अर्थ होते हैं-जन साधारण खाने पीने आदि क्रिया को कर्म कहते हैं। मीमांसक यज्ञादि क्रिया को कर्म कहते हैं। स्मार्त विद्वान चार वर्ण एवं चार आश्रमों के नियत कर्म के रूपमें कर्म को मानते हैं। पौराणिक लोग धार्मिक क्रियाओं के अर्थ में कर्म को स्वीकार करते हैं । वैयाकरण लोग कर्ता के फल=साध्य के अर्थ में कर्म शब्द का व्यवहार करते हैं और नैयायिक उत्क्षेपादि पांच कर्मो के रूपमें कर्म को मानते हैं जबकि, जैन दर्शन की कर्म की परिभाषा कुछ भिन्न है। राग द्वेषात्म परिणाम को यह भाव कर्म कहता है और कर्माणु जाति पुद्गलों को द्रव्य कर्म कहता है । कर्तव्य और पुरुषार्थ के रूप में भी कर्म शब्द आया है †

‡ सकषायत्वाज्जीव कर्मणो योग्यान् पुद्गलानादत्ते । सबन्ध
तत्वार्थ अ० ८ । सू० २ ३

§ मनएव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयो ।

† कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन —गीता
कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समा —वेद

अन्य दर्शनों ने भी कर्म के अस्तित्व को स्वीकार किया है। क्योंकि प्रत्येक आस्तिक दर्शन आत्मा को अजर अमर मानता है और पुनर्जन्म स्वीकार करता है परिणामत उसे पुनर्जन्म के हेतु रूप कर्म को स्वीकार करना ही पड़ता है।२ वैदिकदर्शन मे माया, अविद्या और अदृष्ट शब्द कर्म के अर्थ मे प्रयुक्त होते हैं। सांख्य दर्शन उसे प्रकृति कहता है। बौद्धदर्शन वासना के रूप मे कर्मतत्व को ग्रहण करता है। नैयायिक धर्माधर्म संस्कार दैव और भाग्य के रूप में उसे पहचानता है।

इस रूप मे कर्मवाद सभी दर्शनों मे है। फिर भी जैन दर्शन ने उस पर गहराई से विचार किया है। उसने सिध्द कर दिया है अपने निर्माता हम स्वय हैं। जैन दर्शन की कर्मवाद की यह देन मानव को अन्तराभिमुख बनाती है। जो कुछ बनता बिगड़ता है उसका उत्तरदायित्व मुझ पर है। फिर दूसरेपर रोष और दोष क्यों॥? पैंसिल छीलते अपने ही हाथों चाकू ने पैंसिल के साथ अगुली छील डाली तो दूसरे से भिड़ने की कोई कोशिश नहीं करेगा। कर्म वाद कहता है–विपत्ति को एक दिन तूने ही निमत्रण दिया था। आज वह आई है फिर उससे भागने की या आक्रोश करने की कोई आवश्यक्ता नही तेरे अशुभ का उदय है तो कोई रोक नही सक्ता।

जैन दर्शन कर्म फिलासफी के माध्यम से मानव को स्वावलंबन का संदेश देता है। सतति और सम्पत्ति के लिये भिखारी बनकर क्यों किसी के सामने गिड़गिड़ाता है। क्यों हाथ फैलाता है? तेरा पुण्य कोश भरा होगा तो मिलेगा ही। दूसरी ओर दर्शन की यह देन मानव के दिमाग से अहं का नशा भी दूर करती है। तेरे पुण्यका यह कल्पवृक्ष तुझे मीठे फल दे रहा है तेरा अपना कुछ नहीं है यदि पुण्य का कल्पवृक्ष सूख गया तो सब कुछ समाप्त है अत इसे सेवा के जल से सींचता जा।

दूसरी ओर अशुभोदय के समय मानव बुरी तरह छटपटाता है और अशुभोदय जिस निमित्त को आगे रखकर आता है आत्मा उसी पर झपटता है, आक्रोश करता है चीखता और चिल्लाता है, उस निमित्त को दुःख का मूल मानकर उसे समाप्त करने की चेष्टा करता

२ शुभेन कर्मणा सौख्यं दुःखं पापेन कर्मणा
कृतं फलति सर्वत्र नाकृतं भुज्यते क्वचित् (वेद व्यास महा० अनु०)

है किन्तु यह शेर की नहीं श्वान की वृत्ति है।

दुनियां में दो वृत्तियां काम कर रही हैं एक सिंह की वृत्ति है दूसरी श्वान की वृत्ति। श्वान पर कोई पत्थर मारता है तो वह पत्थर को काटने दौड़ता है पर कोई शिकारी सिंह पर गोली छोड़ता है तो वह बन्दूक पर नहीं बन्दूकधारी को अपने वार का लक्ष्य बनाता है पहली वृत्ति अज्ञानी की वृत्ति है वह बाहर की वस्तुओं की निन्दा करता है दुःख के निमित्त पर आक्रोश करता है किन्तु सिंह की भांति दुःख के मूल पर प्रहार नहीं करता।१ दूसरी वृत्ति तत्वदर्शी की है वह दुःख आने पर दुःख के निमित्त से नहीं झगड़ता वह दुःख के मूल पर प्रहार करता है। और वह विशिष्ट शुद्ध चेतना के द्वारा समस्त कर्मों को भस्म करके शुद्ध स्थिति को प्राप्त कर लेता है।

श्रमण संस्कृति कहती है सब कुछ तेरे हाथ है। दूसरा तो निमित्त मात्र है।

— इति —

---

१ पत्थरेणाहतो कीवो खिप्पं डसइ पत्थरं
मिगारिऊ सरं पप्प सरुप्पत्तिं विमग्गति ॥
तहा बालो दुही वत्थु बाहिरं णिंदति भिसं
दुक्खुप्पत्तिविणासं तु मिगारिव्व पप्पए ॥—मधुराय अर्हतर्षि
इसिभासियाई अ० १५ गा० ७—२१

* * *

नेकी का बदला न देना कृतघ्नता है। और उसका बदी में जवाब देना पिशाचता है। —सेनका

शक्ति द्वारा शत्रु पर विजय अधूरी विजय है

सोने का घूंघट सारी कुरूपता को ढक देता है। —टैकर

यदि सुन्दर मुख सिफारिश पत्र है तो सुन्दर हृदय विश्वास पत्र —बुलवर

मानव का अन्तःकरण ही ईश्वर की वाणी है
जवानी बड़ी भूल है, मनुष्यत्व संघर्ष है, बुढापा पश्चाताप है
—डिजराइल

सम्यग्-दृष्टि, सम्यग् दर्शन और उसकी साधना

लेखक
मुनि श्री मल्ल

★

सस्कृति का आविष्कार क्यों ?

धर्म, दर्शन और संस्कृति का आविष्कार मनुष्य ने मनुष्य के लिये किया है। भारतीय धर्म परम्परा में जीवन के प्रत्येक अनुष्ठान का केन्द्र बिन्दु मनुष्य है। धर्म, दर्शन तथा संस्कृति के क्षेत्र में यही प्रयोग आज महत्वपूर्ण है। जिसका इष्ट देवता अथवा उपास्य देव मनुष्य है। जिस धर्म क्रिया का फल साक्षात् इहलोक के मानव जीवन के लिये न हो, जो मनुष्य जीवन की उपेक्षा करके स्वर्गगामी देवों के जीवन की अभिलाषा करता हो, वह विचार न तो धर्म दर्शन एवं संस्कृति के अनुकूल है और नहीं आधुनिक जीवनपद्धति के अनुरूप हो सकता है। विज्ञान, कला, साहित्य और राजनय सबकी उपयोगिता की एक मात्र कसौटी मानव का प्रत्यक्ष लाभ और प्रत्यक्ष जीवन है। स्थूल मानव जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में विचारों की हलचल मनुष्य के इसी रूप को पकड़ने के प्रयत्न में है। जीवन के इस स्वस्थ दृष्टिकोण से जहां एक ओर मानव की प्रतिष्ठा बढ़ी है, वहां दूसरी ओर स्वर्ग की ओर उड़ने वाले मनुष्य के विचारों ने धरती की कुशल-मंगल पूछने का नया पाठ भी पढ़ा है और यह एक बड़ी बात है। महान् परिवर्तन है।

मनुष्य महनीय है :

आज के इस जाने पहिचाने विश्व के समग्र विचारों का मध्य बिन्दु मानव के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं। विश्व क्षितिज का प्रत्येक नया ग्रह, मानव रूपी मध्य केन्द्र के चारों ओर ही मंडराता है। उसकी गतिविधि का मूल आधार है—"मनुष्य'। जो मनुष्य इतना महनीय है, जो विश्व की परिधि का केंद्र है, वह यथार्थ में है क्या ? क्या हम इसे मिट्टी, पानी, आग और हवा का एक विलक्षण संयोग मात्र मान लें। क्या यह जल में से ही उत्पन्न होने वाला और जल में

ही विलीन हो जाने वाला एक नगण्य जल बुद्बुद मात्र कहा जा सकता है। नहीं, कदापि नहीं। मनुष्य मात्र यही नहीं है, जो आपको और हमको दृष्टिगोचर हो रहा है।

मनुष्य में कुछ ऐसा तत्व भी है, जो होकर भी दृष्टि गोचर नहीं हो पा रहा है। केवल दो, चार स्थूल तत्वों के विचित्र संयोग मात्र से ही मनुष्य नहीं बन गया।

मर्त्य और अमृत का संयोग :

आत्मवादी दर्शनों की विचार धारा के अनुसार मनुष्य में "मर्त्य और अमृत का सुन्दर संयोग है। उसमें कुछ ऐसा है, जो बार-बार बनता है, बिगड़ता है, सड़ता है, और मिटता है। परंतु साथ ही उसमें कुछ ऐसा भी है जो न जन्मता है, न मरता है, न वृद्धि पाता है और न कभी गलता-सड़ता ही है—"वह चिरंतन सुन्दर है।' मनुष्य में देह मर्त्य है, और आत्मा अमृत। उसका मर्त्य अंश उसको पार्थिव जगत के साथ बांधे हुए है। किन्तु मनुष्य के भीतर ही उसका दिव्य अंश भी है। भारतीय दर्शन का यह कथन बड़ा ही महत्वपूर्ण है, कि "जब तक मर्त्य और अमृत अंशों को ठीक से न समझा जाएगा और उनका ठीक से विकास न किया जाएगा, तब तक मनुष्य अतृप्त और अपूर्ण ही रहेगा।'

भोग-दृष्टि :

भोगवादी मनुष्य केवल अपने भौतिक रूप को ही जानता और पहचानता है। शरीर का सुख, उसका सुख है। शरीर की पीड़ा उसकी पीड़ा है। शरीर का ह्रास उसका ह्रास है। शरीर का विकास उसका विकास है। वह मानता है, कि शरीर सुन्दर है तो वह सुन्दर है। शरीर विकृत है तो वह विकृत है। भोगवादी मात्र भोग के जाल में आबद्ध रहता है। पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु ये सब मेरे हैं, और मैं उनका हूँ। उक्त पदार्थों का संयोग मेरा अस्तित्व और उनका विखराव मेरा नाश है, मेरा मेरा अभाव है, मेरी असत्ता है। भोगवादी अमृत अंश को मानने से इन्कार करता है, और मर्त्य अंश को मानने के लिए इकरार करता है। भोग, विलास, सुख और काम ये ही हैं, उसके जीवन के ध्येय बिन्दु। इनकी प्राप्ति और इनके उपभोग में ही वह अपने जीवन की सार्थकता समझता है, अपने को कृतकृत्य मानता है।

आत्म-दृष्टि:

आत्मवादी मनुष्य शरीर की

सत्ता से तो इन्कार नहीं करता, परन्तु उसकी विवेक दृष्टि शरीर की दीवार को चीर कर, अन्तःस्थित दिव्य आत्मा के साक्षात्कार के लिए[1] उत्कंठित हो जाती है, आत्मवादी मानव शरीर में स्थित ज्योतिर्मय एवं शुभ्र[2] चिन्मय तत्त्व को पाने के लिए साधना में रम जाता है। दर्शन और धर्म की मूल-भित्ति आत्मा है। यदि आत्मा है तो वह है, नहीं तो नहीं। यह स्पष्ट दृष्टिकोण है आत्मवादी मनुष्य का। भोग, विलास और काम उसके जीवन में रहें, यह बात अलग है, परन्तु इनकी प्राप्ति और इनका उपभोग उसके जीवन का ध्येय नहीं बन पाता। भोग से योग की ओर बढ़ना उसके जीवन का लक्ष्य होता है। वह सदा अन्धकार से प्रकाश[2] की ओर बढ़ने में विश्वास लेकर चलता है। आत्मवादी देह की उपेक्षा नहीं करता, किन्तु देह विराजित आत्मा की उसने मन में प्रबल अपेक्षा रहती है। शरीर को मारना नहीं साधना है। शरीर[3] हमारी धर्म साधना का प्रधान अंग है। शरीर के बिना केवल शरीरी धर्म कैसे करेगा।

सम्यक्त्व रत्न:

श्रमण साहित्य में "भोगवादी को मिथ्या दृष्टि और आत्मवादी को सम्यग्दृष्टि कहा गया है।" श्रमण धर्म, श्रमण दर्शन, और श्रमण संस्कृति का मूल है—सम्यग्दर्शन, सम्यग्दृष्टित्व तथा सम्यक्त्व। श्रमण विचार धारा सम्यक्त्व मूलक है[4]। धर्म दर्शन और संस्कृति का मूल यहां पर सम्यक्त्व माना गया है। सम्यक्त्व है, तो सब कुछ है, नहीं तो न कुछ। श्रावक, श्रावक क्या है? श्रमण श्रमण क्या है। क्योंकि उसके पास सम्यक्त्व रत्न है। बस इसीलिए तो?

लोक का सार सत्य:

सत्य दृष्टि, सम्यग् दृष्टि, और सम्यक्त्व ये तीनों पर्याय शब्द हैं। इन तीनों को एक शब्द में ही कहना हो, आप "विवेक दृष्टि" कह सकेंगे। आत्मवादी की सबसे बड़ी विशेषता है। सत्य की उपासना, सत्य की साधना और सत्य की आराधना। सत्य उसके जीवन का मूल ध्येय होता है। यदि वह सत्य अपने शास्त्रों में है तो भी अपना है, और यदि पर के शास्त्रों में है,

---

१ अन्तः शरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रः। —मुण्डकोपनिषद् ३-४

२ आरोह तमसो ज्योतिः। —वेद

३ शरीरं धर्म साधनम्। —कालिदास

४ दंसण मूलो धम्मो

तो भी अपना है। सत्य सत्य है। उसमें स्वत्व परत्व की कल्पना और जल्पना ही वस्तुतः सबसे बड़ा मिथ्यात्व है, सबसे भयंकर पाप है। जिस किसी भी आत्म वादी ने जब कभी भी आत्मा के शुद्ध एवं निर्मल स्वरूप को पाया है, तो वह सत्य१ से ही। श्रमण साहित्य तो इससे भी बढ़कर कहता है—"सम्पूर्ण लोक का सार क्या है? सत्य-सत्य सत्य, फिर पूछा गया सत्य क्या है? उत्तर में बहुत बड़ी बात कही गई। सत्य२ स्वयं भगवान है। सत्य है, सो भगवान है, और भगवान है, सो सत्य है।

एक दार्शनिक से पूछा गया आखिर, वह सत्य है, क्या? आचार्य ने शिष्य से कहा- "जो जिन भगवान ने कहा है वह सत्य है।' क्योंकि जो व्यक्ति विशेष क्षीण दोष है, वह यथार्थ ज्ञाता एवं यथार्थ वक्ता है। उससे जो कुछ मिला वही सत्य है। वह व्यक्ति विशेष भले ही फिर किसी भी देश का और किसी भी काल का क्यों न हो? किंतु श्रमण संस्कृति केवल सत्य के ज्ञान मात्र से ही संतुष्ट नहीं हैं, यह आगे बढ़कर कहती है। "सत्य का आचरण भी करो।"

क्षुरस्य धारा:

आत्म वादी सत्यदर्शी ही होता है। वह जहां कहीं भी और जिस किसी भी स्थिति में रहता है, वहां सत्य की खोज करता रहता है और "जो सत्य की खोज में रहता है, उसे किसी देश एक में आबद्ध नहीं होना चाहिये। सत्य श्रेष्ठ है परन्तु वह सत्य सरल होना चाहिये। सरल सत्य संसार की सर्वोच्च वस्तुओं में से एक है। सत्यवादी मनुष्य का यह दृष्टिकोण होना है कि जब तक जीवन है, सत्य बोलते रहो और शैतान को पराजित करते रहो। अर्थात् असत्य को सत्य से जीतते रहो। आखिर विजय सत्य की होगी। असत्य अवश्य ही पराजित होगा इसमें जरा भी संदेह नहीं। सत्य अपने आपमें महान् है। परन्तु उसकी साधना उतनी सरल नहीं जितनी समझी जाती रही है। वह तो "क्षुरस्यधारा है।" सत्य का आचरण धारों पर चलने जैसा है।

सत्य के इसी पावन स्वरूप को श्रमण संस्कृति के तेजोधर आचार्यों ने सम्यक्त्व, सम्यग्दृष्टि और सत्य दृष्टि शब्दों से अभिव्यक्त किया है।

---

१ सत्येन लभ्य एष आत्मा। —मुण्डकोपनिषद्

२ सच्चंलोगम्मि सार भूयं। —प्रश्न व्याकरण

३ तं सच्चं खु भगवं। —प्रश्न व्याकरण

सम्यक्त्व आत्मा का निजगुण है, निज स्वरूप है। सत्य दृष्टि है, तो श्रावक, श्रावक है और श्रमण श्रमण है। श्रावक के अणुव्रत, और श्रमण के महाव्रत, सम्यक्त्व मूलक ही होते हैं। यदि सम्यक्त्व है तो ज्ञान भी सम्यग्ज्ञान है और चारित्र भी सम्यक् चारित्र है। श्रमण दर्शन में, जीव, जीवन और जगत की प्रत्येक प्रक्रिया एवं प्रयोग को इसी सम्यक्त्व किंवा सत्य-दृष्टि की कसौटी पर कस देखा और परखा जाता है।

जीवन विकास के साधन :

सत्यशोधक जीव और जगत के स्वरूप को समझने का प्रयत्न करता है। "मनुष्य ज्ञान से पदार्थों को जानता है, दर्शन से श्रद्धा करता है, चारित्र से उपादेय को ग्रहण करता है और तप से अपने को शुद्ध बनाता है।[१]

जीवन विकास के ये, वे अन्तरंग साधन हैं जो भगवान महावीर ने अपनी अंतिम वाणी में बताए हैं। ज्ञान जीवन में बड़ी शक्ति है, वह मानव का सार है,[२] परंतु ज्ञान का भी सार है, सम्यक्त्व, आत्मश्रद्धा, आत्म निष्ठा। जिसने जीवन में सम्यक्त्व नहीं पाया, उसने ज्ञान और चारित्र भी नहीं पाया नहीं पा सकता। क्योंकि सम्यक्त्व हीन का ज्ञान ज्ञान नहीं, वह अज्ञान कहा जाता है[३]। और सम्यक्त्व हीन का चारित्र चारित्र नहीं-कुचारित्र कहा जाता है[४]। सम्यक्त्व रूप धर्म के प्रभाव से नीच से नीच मनुष्य भी देव हो जाता है और मिथ्यात्वरूप पाप से ऊच से ऊच मनुष्य भी हीन और तुच्छ हो जाता है[५]

श्रमण साहित्य के अतिरिक्त वेदानुगामी साहित्य में भी सम्यग्दर्शन की महिमा कम नहीं है। ऋत, सत्य, समत्व आदि शब्दों से उक्त परम तत्त्व को स्वीकृत किया गया है, वैसे तो सम्यग् दर्शन शब्द भी वहां उपलब्ध है, परन्तु यत्र तत्र, बहुत कम। श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं " अर्जुन! जीवन को शांत और पूत बनाने के बनाने के

१ नाणेण जाणइ भावे, दंसणेण य सद्दहे,
चरित्तेण निगिण्हेइ, तवेण परिसुज्झइ॥ उत्तराध्ययन २८-३५
२ नाणं नरस्स सारं, सारो नाणस्स वि होइ सम्मत्तं
३ ना दंसणिस्स नाणं —उत्तराध्ययन २८ ३
४ नत्थि चरित्तं सम्मत्त विहूणं। —उत्तराध्ययन २८-२६
५ सम्यग्दर्शन सम्पन्न मपि मातंग देहजम्।
देवा देवं विदुर्भस्म गूढाङ्गारान्तरौजसम्॥ —समन्त भद्र

लिये समत्व को प्राप्त करने का प्रयत्न करो। समत्व सबसे बड़ा योग है "समत्वं योग उच्यते" मनु संहिता में, मनु ने भी उक्त परम सत्य को स्वीकार किया है, वे कहते हैं जो सम्यग्दर्शन से सम्पन्न है, वह कर्म से बद्ध नहीं होता, संसार में परिभ्रमण वही करता है जो सम्यग्दर्शन विहीन है ४।

मिथ्या-दृष्टि और सम्यग्दृष्टि

मिथ्यादृष्टि संसार के काम भोगों में आसक्त होकर, अपने स्वरूप को भूला हुआ रहता है। स्वादु भोजन, मधुर पेय, सुन्दर वसन, चमक दमक के अलंकार और भव्य भवन इनमें मुग्ध होकर, वह अपने शाश्वत-स्वरूप को भूल बैठता है। जबकि सम्यग्दृष्टि संसार में रहकर भी संसार के राग विलास से ऊंचा, बहुत ऊंचा रहता है। जल में रहकर भी कमल-पत्र, जल से ऊंचा रहता है। सम्यग्दर्शन सम्पन्न मनुष्य में यही कला होती है। संसार है, संसार के पदार्थ भी हैं, पर वह समझता है—ये अन्य हैं, मैं अन्य हूं। मैं चेतन हूं, व जड़ हैं। मैं नेता हूं ये जड़ हैं। जिसकी मति सरल है, उसकी गति भी सरल है, उसका शील भी सरल है। क्योंकि सरलात्मा सब को सरल ही समझता है।

मनुष्य की दृष्टि के अनुसार उसकी सृष्टि बनती और बिगड़ती है। दिशा के अनुसार उसकी दशा सुधरती और बिगड़ती है। मैं सत् हूँ। मेरी सत्ता है, इतना तो मिथ्या दृष्टि भी समझ सकता है। परन्तु मैं चिन्मय हूँ मैं आनन्दमय हूं, यह अनुभूति सम्यग्दृष्टि को तो होती है, पर मिथ्यादृष्टि को कभी नहीं होती। सत्ता तो जड़ में भी होती है, किन्तु उसमें ज्ञान और आनन्द नहीं होता। सत् चित् आनन्द आत्मा प्रयात्मक है। यह दिव्यदृष्टि जिसको मिल गई, वस्तुतः वही सम्यग्दृष्टि है अब, सवाल यह रह जाता है कि सम्यग्दृष्टि का व्यवहार कैसा होता है? आचार कैसा होता है? विचार कैसा होता है? वह कैसा सोचता है, और क्या करता है?

प्रशम

सम्यग्दृष्टि विजेता होता है। किसका विजेता? विकारों का। विकार को विचार में बदलने की

---

४ सम्यग्दर्शन-सम्पन्नः कर्मभिर्न निबध्यते।
दर्शनेन विहीनस्तु संसारं प्रतिपद्यते॥ —मनु संहिता ६-७४

फल इसके पास में होती है। विकार चार हैं—क्रोध, मान, माया, और लोभ। सम्यग्दृष्टि उपशम से क्रोध को, विनय से मान को, सरलता से वक्रता (माया) को और संतोष से लोभ को जीतने का निरंतर प्रयत्न करता रहता है। क्योंकि क्रोध प्रेम का नाश करता है। मान, विनम्रता का विनाश करता है। माया, ऋजुता क्षीण कर डालती है। लोभ, आत्मा के समग्र सद्गुणों का घात करता है। उक्त चार विकार (कषाय) यदि जीवन भर स्थिर रह जाएं अथवा यदि वे वर्ष भर भी जीवन से संलग्न रहें जाए, तो वे आत्मा के सम्यक्त्व गुण का घात कर सकते हैं। अत इन पर विजय पाना अत्यन्त आवश्यक है। शास्त्र की भाषा में, उक्त विकारों की विजय को प्रशम कहते हैं। अथवा उपशम कहते हैं। श्रमण धर्म की अध्यात्म साधना का यह सार है। शम—का प्राकृत भाषा में 'सम' हो जाता है, जिसका अर्थ होगा प्राणि मात्र के प्रति समता भाव। समता और समत्व का अर्थ एक ही है। समत्व की साधना से जीवन, सुन्दर, मधुर तथा पावन बनता है। समत्व की साधना बहुत बड़ी साधना है।

संवेगः

सम्यग्दृष्टि में मोक्षाभिलाषा निरन्तर बनी रहती है। मोक्ष पाना उसके जीवन का लक्ष्य हो जाता है ध्येय जितना ऊँचा, जितना दूर और जितना महान् होगा, साधक उतनी ही तीव्रता के साथ उस ओर बढ़ने का प्रयत्न करता है। संसार की ओर न बढ़कर, मोक्ष की ओर गतिशील होना-संवेग कहा जाता है वेग का अर्थ है, गति। यदि वह नीचे की ओर है, तो वेग है और यदि वह ऊपर की ओर है, तो संवेग है। सम्यग्दृष्टि मात्र वेग की नहीं, संवेग की साधना करता है, वह संसार से पराङ्मुख होकर, मोक्ष के सन्मुख होता है। उक्त ध्येय निष्ठा को ही शास्त्र में संवेग कहा गया है।

निर्वेद

सम्यग्दृष्टि का जीवन वैराग्यमय होता है। भोग, विलास और काम में उसकी अभिरुचि नहीं होती है उसका जीवन आत्म लक्षी होता है भोग लक्षी नहीं। सम्यग्दृष्टि इह लोक सम्बन्धी और परलोक सम्बन्धी किसी भी प्रकार के भोगों की अभिलाषा नहीं करता। वह अपनी शक्ति का उपयोग त्याग में करता है भोग में नहीं। शास्त्र की भाषा में मोह के त्याग को वेद कहते हैं, वह वेद जिसमें नहीं है वह व्यक्ति निर्वेद होता है। निर्वेद अर्थात् वैराग्य शील जीवन।

[illegible]

नहीं, बल्कि स्वयं शुद्ध होना
शुद्ध बनना है । रागद्वेषादि
का दमन कर इन्हें विकास
के से दूर हटा देना है ।
परम्परा मे मानवीय चरित्र
कार्य का ही महत्व है ।
तरह महावीर का लक्ष्य
शुद्धि के साथ ही चरित्र-
र है । शुद्ध आध्यात्मिक
। समाज का रूप धारण
इसमें देव और देवियों
देने वाली जातियां भी
हो गयी । जब
जन्म हुआ, तब देवता
ने आकर सब तैया
दैवी चमत्कारों से भरे

संदेश

मूर्ति

इस प्रदेश में हो,
वाले श्री महा-
उनकी जीवनी
बिना कैसे
यह सम्भव
वान महा
अतिशयोक्ति

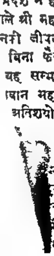

स-
न
ल
मी
म

[illegible]

धर्म—विहीन एवं शिथिल आचार वाले व्यक्ति की संगति करना, प्रशंसा करना एवं परिचय करना परपाखण्डस्तव व परपाखण्ड परिचय कहते हैं। इन्द्रियजन्य सुख पराश्रित होने से पर कहे जाते हैं, उन सुखों की आकांक्षा लेकर, व्रत-साधना करने वाला व्यक्ति 'पर-पाखण्ड' कहा जाता है। पाखण्ड शब्द का अर्थ 'व्रत' भी किया जाता है। 'परपाखण्ड' इन्द्रियजन्य सुखों तक ही सीमित रहने वाला- मिथ्या दृष्टि है- अत उसका स्तव एवं परिचय, पतन का कारण होता है।

महतो महीयान् :

सत्य की साधना, सबसे बड़ी साधना है, वह "महतो महीयान्" है। सत्य पथ पर चलने वाला साधक मृत्यु को भी जीत लेता है। वह आत्मा से परमात्मा बन जाता है। सत्य की पूर्णता का नाम ही तो भगवान है। सम्यक्त्व साधना में सफल व्यक्ति ही व्रत साधना करके अजर अमर एवं शाश्वत सिद्ध पद को प्राप्त करने में समर्थ होता है। सत्य अनंत है, व्यक्ति सीमित है। परन्तु जब व्यक्ति सीमाओं को, क्षुद्रताओं को पार करके ससीम से असीम बन जाता है, तब उसका सत्य भी अनन्त हो जाता है। अनंत में ही अनंत गुणों की अभिव्यक्ति हो सकती है। उस अनन्त सत्य को नमस्कार है। उस अनन्त सत्य के साधक सम्यक्त्वी को नमस्कार है।

ॐ-शान्ति शान्ति शान्ति

★ बीस वर्ष की आयु में संकल्प शासन करता है, तीस वर्ष में बुद्धि चालीस वर्ष में विवेक —फ्रेंकलिन

★ जब आपके अपने द्वार की सीढ़ियां मैली हैं तो अपने पड़ोसी की छत पर पड़ी गन्दगी का उलाहना मत दीजिये। —कन्फ्यूशियस

★ जिस प्रकार कसौटी सोने को परखती है इसी प्रकार सोना मनुष्य को परखता है —चिलो

★ ★ ★

संसार के अति उत्तम मानव समाज में भगवान महावीर का स्थान बहुत ही महत्वपूर्ण है। इतिहास में ऐसे महापुरुष समय समय पर होते ही रहे हैं, जिन्होंने अहिंसा, समता व प्राणिमात्र के प्रति प्रेम भाव के मूल भूत सिद्धांतों के आधार पर जीवन की जटिल समस्याओं को सुलझाने की प्रेरणा दी है। मानवजीवनके क्षेत्रों में इन सिद्धांतोंको चरितार्थ करने, भौतिक विजय के स्थान पर इन्द्रिय दमन और आत्म विजय को ही वास्तविक विजय मानने में महावीर अग्रणीय हैं। अपने समय की परि

करना नहीं, बल्कि स्वयं शुद्ध होना और बुद्ध बनना है। रागद्वेषादि कषायों का दमन कर इन्हें विराम के रास्ते से दूर हटा देना है। श्रमण परम्परा में मानवीय चरित्र और पुरुषार्थ का ही महत्व है। बुद्ध की तरह महावीर का लक्ष्य चारित्र्य शुद्धि के साथ ही चरित्र-निर्माण में है। शुद्ध आध्यात्मिक धर्म ने जब समाज का रूप धारण किया, तो उसमें देव और देवियों को मान्यता देने वाली जातियां भी शामिल हो गयीं। जब बुद्ध का जन्म हुआ, तब देवता और देवियों ने आकर सब सेवा किया की ऐसे दैवी चमत्कारों से भरे

भगवान् महावीर का संदेश

—१००८ श्री पूज्य श्री जिन विजयसेन सूरि

स्थिति का उन्होंने गम्भीर अध्ययन किया, उसे सुधारने के लिये कठोर कदम उठाया, निर्भीक हो ये घोषणा भी कर दी कि मानव जीवन का ध्येय पूर्ण स्वतन्त्रता, मुक्ति है। हर प्रकार के बन्धनों को तोड़कर अनन्तकाल के लिये मुक्त हो, परमानन्द की प्राप्ति करना हमारा परम लक्ष्य है। इस लक्ष्य तक पहुँचने की शक्ति प्रत्येक आत्मा में विद्यमान है। किंतु अपने ही बल और अपने ही पुरुषार्थ से उसे प्रगट करने की आवश्यकता है। मुमुक्षु का उद्देश्य पर ... कि

ग्रन्थों का प्रचार जिस प्रदेश में हों, उसी प्रदेश में रहने वाले श्री महावीर के अनुयायी उनकी जीवनी को दैवी-चमत्कारों के बिना कैसे सुनना पसन्द करें ? यह सम्भव ही नहीं है। अतः भगवान महावीर की जीवनी में कुछ अतिशयोक्ति का समावेश हुआ।

भगवान के जीवन में आत्म-लक्षी—याने महान् कष्टों को सहन करते हुए अपनी आत्मा को निर्मल बनाने के लिये किये गये सभी प्रयत्नों का समावेश होता है। हम

प्राचीन इतिहास की ओर दृष्टिपात करते हैं तो हमें मालूम होता है कि उस समय अपने अन्तमदर्शन को प्रगट करते हुए ब्राम्हण, क्षत्रिय और वैश्यादि समाज में अनेक यज्ञों का धर्म रूप में वैसा प्रचार था और उनमें से अनेक यज्ञों में घोड़े, गाय, बकरे आदि पशुओं का तथा मनुष्य तक का धार्मिक भावना से वध होता था। भगवान महावीर की देन है कि हजारों वर्ष से देश के एक सिरे से लेकर दूसरे सिरे तक पुरानी यज्ञ प्रथायें बन्द हो गयी। वर्तमान समय में कहीं-कहीं कोई कोई यज्ञ करते भी हैं—तो वे यज्ञ बिल्कुल अहिंसक होते हैं।

धर्म रूप से कर्तव्य माने जाने वाले पशु वध का विरोध करके उसे सम्पूर्ण रीति से रोकने का काम अवश्य ही कठिन था, जैसे आज कल वर्तमान समय में बूचड़खाने में होने वाले पशु वध को बन्द कराना अति कठिन है। भगवान से सतों की तरह इस कार्य को पूरा करने में कोई कमी नहीं रखी थी। उत्तराध्ययन में यज्ञीय अध्ययन में यज्ञीय अहिंसा का बहुत ही विरोध किया है। यही भगवान की धार्मिक प्रवृत्ति का सूचक है।

धर्म के क्षेत्र में ब्राम्हण आदि तीनों वर्णों का आदर एक सा होता था, तीनों वर्ण वाले यज्ञ के अधिकारी थे, किंतु बेचारे शूद्रों का धार्मिक क्षेत्रों में प्रवेश की बात तो दूर रही—उनका दर्शन भी अमंगल माना जाता था। इसका वर्णन ब्राम्हण ग्रंथों में स्पष्ट मिलता है। शूद्रों को अस्पृश्य-समाज में मानने का भाव वैदिक परम्परा में बहुत गहरा था इतना पशु वध का नहीं था। इसी कारण को लेकर बुद्ध, महावीर जैसे महात्माओं के प्रयत्न से पशु वध तो बन्द हुआ किंतु उनके हजार चेष्टाओं करने पर भी अस्पृश्यता परम्परा आज भी मौजूद है। ऐसी गहरी जड़ वाले छुआ छूत के विचार को दूर करने के लिये भगवान ने निन्दा स्तुति की परवाह किये बिना प्रबल पुरुषार्थ किया। ब्राम्हण परम्परा अपने यज्ञ धर्म में शूद्रों का दर्शन तक भी सहन नहीं करती थी, तब बुद्ध आदि महात्माओं की तरह महावीर ने भी अपने साधु संघ में 'मेतार्यमुनि' चाण्डाल जैसे अति शूद्रों को भी वैसा ही सम्मान दिया जैसा कि ब्राम्हण आदि वर्णों को। जैसे बापू गांधीजी ने अस्पृश्यता को जड़ से उखाड़ फेंकने के लिये और शूद्रों को मन्दिर में स्थान दिलाने के लिये प्रयत्न किया वैसे ही महावीर ने अस्पृश्यता को दूर करने के लिये शूद्रों को अपने साधु संघ में

स्थान दिया। उसके बाद के इतिहास से मालूम होता है कि साधुसंघ में किसी भी जैनाचार्य ने शूद्रों को दीक्षित किया हो—ऐसा उदाहरण नहीं मिलता। दूसरी ओर दृष्टिपात करते हैं, तो सम्पूर्ण जैन समाज अस्पृश्यता के बारे में ब्राह्मण परम्परा के नियमों से मुक्त नहीं है। ऐसी परिस्थिति में भगवान महावीर ने जातिवाद का जो प्रबल विरोध किया था, वह किसी न किसी रूप में पुराने आगमों में सुरक्षित रह गया है।

भगवान महावीर ने नई धर्म परम्परा को नहीं चलाया इन्होंने पार्श्वनाथ के धर्मपरम्परा को ही पुनर्जीवित किया है। बौद्ध साहित्य से भी आभास होता है कि पार्श्वनाथ के चातुर्याम को ही सब से पूर्व बुद्धधर्म के संस्थापक गौतम बुद्ध ने ग्रहण किया और उनके पिटक ग्रन्थों में भी अनेक शब्द मिलते हैं। बौद्ध ग्रन्थों से भी महावीर द्वारा चातुर्याम धर्म को ही पंचमहाव्रत धर्म के रूप में जैन शास्त्रों में वर्णित किया गया है। महावीर स्वयं नग्न एवं वस्त्र रहित थे, फिर भी अल्प और जीर्ण वस्त्र रखने वाले साधुओं को अपने संघ में स्थान देते थे ऐसा आचारांग उत्तराध्ययन सूत्र में है। ऐसे ही उदाहरण बौद्ध ग्रन्थों में भी देखे जाते हैं। महावीर के नाम के साथ निर्ग्रन्थ शब्द बौद्ध ग्रन्थों में भी आता है, जो जैनागमों के अनुकरण किये गये हैं। मगधपति श्रेणिक, कौणिक आदि राजा महावीर के अनुयायी थे, उनका आदर करते थे जैसा ही बौद्ध पिटकों में भी वर्णन मिलता है। महावीर की दीर्घ तपस्या का वर्णन जैसा जैन ग्रन्थों में 'अर्जुन माली' का वर्णन आता है, वैसा ही बौद्धग्रन्थों में भी 'अंगुलीमाल' का वर्णन मिलता है। जैनागमों में महावीर के कुशिष्य 'गोशाले' का वर्णन है, वैसा ही बौद्ध पिटकों के ग्रन्थ में भी मिलता है।

बुद्ध और महावीर समकालीन और समप्रदेश विहारी तो थे ही किंतु दोनों में पहले किसका निर्वाण हुआ? इसका निश्चय वैसे तो पूर्णरूपेण कोई नहीं कर सका किंतु ऐतिहासिक दृष्टि से महावीर का निर्वाण बुद्ध निर्वाण के पीछे ही हुआ है। बहुत छानबीन से इतिहासकारों ने ये साबित किया है कि वज्जि लिच्छवियों का कौणिक के साथ जो युद्ध हुआ, वह बुद्ध निर्वाण के बाद और महावीर के जीवन काल में ही हुआ। इससे ये साबित होता है, कि बुद्ध का निर्वाण प्रथम हुआ और भगवान महावीर का पीछे।

भगवान के पूर्व भी जैन धर्म प्रसारक हो चुके थे। महावीर के जन्म से २५० वर्ष पूर्व ही भगवान् पार्श्वनाथ का जन्म स्थान वाराणसी था, किंतु उनका विहार व उपदेश-क्षेत्र दूर दूर तक फैला हुआ था। इसी क्षेत्रमें वैशाली नामक सुप्रसिद्ध क्षेत्र भी आता है, जहां भगवान महावीर का जन्म हुआ। जन्म से लेकर निर्वाण तक भगवान ने पद-यात्रा करते हुए अनेक छोटे बड़े शहर, कस्बे, गांव, वन उपवन आदि आदि स्थानों को पवित्र करते हुए निर्मल गगाजल की भांति एक साथ सबको एक सा उपदेश दिया। निःसंकोच और निडर होकर अपने ऊपर आये हुए उपसर्ग (कष्ट) को सहनशीलतापूर्वक सहन किया-इसी से दीर्घ तपस्वी महावीर कहलाए।

भगवान महावीर को अनेक भयानक शारीरिक कष्ट हुए जिनका अध्ययन करने से हृदय प्रकम्पित हो जाता है, किंतु भगवान के अतुल वीर्य आत्मबल के सामने उपसर्ग जितने भी आये, वे सब निस्तेज पड़ गये। भगवान ने अपने बल वीर्य एव पराक्रम से मनुजतिर्यंक व देवकृत असह्य उपसर्गों को प्रभा (कांति) रहित कर दिया। इसी प्रकार अपने कर्मबंधनों को निर्मल बनाते हुए विशुद्ध ज्ञान व विशुद्ध दर्शन प्राप्त किया- जिसे जैन परिभाषा में केवल ज्ञान और केवल दर्शन भी कहते हैं। इसी सहनशीलता के कारण ही अहिंसा, सत्य व आत्म संयमता यानें (केवल ज्ञान) को प्राप्त कर सके।

तत्वज्ञान संबंधी बातों में भगवान महावीर अनेकांत स्याद्वाद एवं सप्तभंगी के प्रसिद्ध वेत्ता थे। उन्हें अपने अनुयायियों की संख्या बढाने का गौण लक्ष्य था उनका प्रधान लक्ष्य तो लोगों के कल्याण के लिये था। अपने सिद्धान्तों को जनता के हृदय में जमाने का विशेष प्रयत्न किया था। उनके अनुयायी औरों की अपेक्षा कम थे। भगवान महावीर का उपदेश जनता के हृदय में व्याप्त हो जाता था।

(१) जाति-पांति का भेद नहीं रखा। प्रत्येक मनुष्य स्पृश्य व अस्पृश्य के लिये भी समान श्रेणी थी। साधु व गुरू-पद सब पा सकते हैं उत्तमता जन्म से नहीं बल्कि गुण और गुणों में भी पवित्र जीवन जिसका हो-वही उत्तम है।

(२) पुरुषों की तरह स्त्रियों के विकास के लिये भी पूर्ण स्वतन्त्रता का उपदेश दिया और विद्या, आचार दोनों में पूर्ण योग्यता के साथ स्त्रियों को पुरुषों जैसा ही समानाधिकार दिलवाया।

(३) ऐहिक पारलौकिक सुख

के लिये होने वाले यज्ञ आदि कर्म काण्डों के परित्याग, संयम व तप के स्वावलम्बी पुरुषार्थ की महत्ता को स्थापित करके अहिंसा धर्म का महत्व समझाया ।

(४) त्याग और तप के नाम पर मायाचार फैल रहा था, उसको शुद्ध संयम और त्याग का स्वरूप करके भोग की जगह योग का प्रचार करना इत्यादि उपदेशों द्वारा भगवान् महावीर ने क्रोध, मान, लोभ और मोह रूपी अन्धकार में पड़े हुए समस्त प्राणी-मात्र को शान्ति, क्षमा और दयारूपी प्रकाश देकर त्राहि त्राहि करती हुई जनता को एकत्रित रहने का पाठ पढ़ाया। इस दिव्य आत्मा ने हम लोगों के कल्याण के लिये जीवन की आहुति देकर अपने जीवन का कितना बड़ा आदर्श रखा है ?

धार्मिक विषयों में भाषा विशेष की व आधिपत्य की समाप्ति की, और लोक भाषा में अपना संदेश सर्वत्र पहुँचाया। सामाजिक जीवन की सुख-शान्ति और मैत्री प्रेम निभाने के लिये महाव्रतों और अणुव्रतों का उपदेश दिया। इन व्रतों के स्वरूप से यह स्पष्ट हो जाता है कि सामाजिक व्यवहार के लिये ये कितने उपयोगी हैं, इनका पालन समाज में शांति, सुरक्षा, सहअस्तित्व, पारस्परिक मैत्री-भाव और दीनों पर अनुकम्पा आदि लोक हितकारी आदर्शों के परिचायक हैं ।

भगवान् महावीर की साधना और सेवा के फलस्वरूप अहिंसा का व्यापक प्रचार हुआ, आत्मा को उन्होंने परमात्मा बनाने के लिये स्वर्ण अवसर दिया, इन्द्रियों और मन को वश में करने तथा उससे वास्तविक सुख प्राप्त करने के लिये लोगों को ज्ञान दिया, दूसरों के दृष्टिकोण को समझने, पाप या झूठ से पुण्य अथवा सत्य का अंश ढूंढ निकालने की समन्वयात्मक दृष्टि प्राप्त हुई, जन्मजात वर्ण-व्यवस्था की नींव प्रकम्पित हो गई । विचार-स्वतन्त्रता का युग प्रारम्भ हुआ, मानव और पशुओं से होने वाले क्रूर व्यवहार में परिवर्तन हुआ, ज्ञान और धर्म के द्वार सबके लिये खोल दिये गये, जनहितकारी कार्यों को करने की प्रेरणा प्राप्त हुई ।

भगवान् महावीर के जन्म से पहले ब्राह्मणों का अधिकार था। पहले ब्राह्मणों के आचार-व्यवहार बहुत ऊंचे थे, इसीलिये भारतवर्ष में उनका आदर-सम्मान था। जनता ने समाज की बागडोर उनके हाथों में छोड़ रक्खी थी– उनका काम पढ़ना-पढ़ाना और उपदेश देना था। धर्म के कामों से

अपने आचरण को शुद्ध रखते थे। किंतु अन्त में ऐसे स्खलित हुए कि सत्य अहिंसा, पठन पाठन, और नित्य कर्म को छोड़कर घोर हिंसक बन गये-धर्म के नाम पर हजारों मूक पशुओं व कभी-कभी तो मनुष्यों को भी बलि वेदी पर चढ़ाने लगे। पहले भी लिखा जा चुका है कि अपने स्वार्थ के वश होकर अपनी स्वार्थ-रक्षा के हेतु ही उन्होंने—"वैदिकी हिंसा, हिंसा न भवति" की रचना भी की।

न्याय अन्याय का विचार किये बिना ही जनता हिंसा को भी धर्म समझने लगी थी। तभी हिंसा का विरोध करने और मानव मात्र की प्राणि रक्षा करने का उपदेश देने के लिये भगवान महावीर का जन्म हुआ।

दीक्षा (त्याग)

भगवान के जन्म होने के बाद के बाद उनके माता पिता, भाई बहन, स्त्री सन्तानादि, राज्य वैभव सभी प्रकार के सुख प्राप्त थे। जब उनके गृहस्थावास में ही २८ वर्ष बीत गये, तब उन्होंने समझा कि सांसारिक सुखों में ही जीव तृप्ति मानता है, किन्तु वे सुख के कारण न होकर दुःख के ही कारण हैं।

भगवान् महावीर ने जीवन का अधिकांश भाग गृहस्थ-जीवन में रहकर भी अहिंसा और सत्य की खोज में व्यतीत किया। उस समय की सामाजिक अवस्था को देखकर ही उनके दिल में दया संचार हुआ उसी सत्य भावना से प्रेरित होकर ही उन्होंने त्यागमय मार्ग को ग्रहण किया। अस्तु

महान व्यक्ति के जीवन में ऐसी स्थिति भी आती है, कि वह आत्म संयम को प्राप्त करने में तल्लीन हो जाता है। आत्म संयम की उत्तम भावना को लेकर ही वह अपने भोगों का त्याग कर डालता है। २८ वर्ष की अवस्था में ही उस वीरात्मा के हृदय में त्याग-भावना ने आन्दोलन शुरू कर दिया था कि कुटुम्बियों के आग्रह वश दो वर्ष गृहस्थ धर्म में और बिताने के बाद नागरिकों के जयनाद के साथ राज वैभव की ममता छोड़कर दीक्षा ग्रहण की।

भगवान ने अपने उपदेश में प्राणी-मात्र को मन, वचन, कर्म से न सताओ और किसी से ऐसे वचन न बोलो, जिससे सुनने वाले की आत्मा को कष्ट पहुँचे। मूक प्राणियों का धर्म के नाम पर प्राणी वध करना भी हिंसा है-अपने शरीर में कहीं पर सुई चुभे या कोई अंग कट जाय तो कितना कष्ट होता है ? जीव दृष्टि से

पशु-पक्षि जानवर आदि सब समान हैं, तब उनका वध करने से उनको कितना कष्ट होता होगा—इस लिये धर्म हो या अधर्म, किसी प्राणी को कष्ट देना ही महान् अपराध है। भगवान महावीर के उपदेश का जनता पर अच्छा प्रभाव पड़ा और जहां जहां भी उपदेश होता, वहां जनता बड़े उत्साह से सम्मिलित होती थी। भगवान के नाम पर मिथ्या ढोंग फैलाने वाले उनके भक्तों का भी परम कर्तव्य है, कि यदि उनके सच्चे उपासक हैं तो अहिंसा का पालन यथार्थ रूप से करें। कथनी और करनी एक हो तभी वीरानुयायी कहलाने के अधिकारी हैं।

आधुनिक युग में मोहनदास करमचन्द गांधी (बापू) राष्ट्रपिता के नाम से विख्यात हुए। उन्होंने भी शांति को चिरस्थायी बनाने के लिये भगवान महावीर के कथित उपदेशों को ही जन भाषा में सरलता से बोध प्राप्त कर सके और उसका पालन कर सके, अत सब से प्रथम पूज्य बापू ने मानवता का संदेश दिया जिसका वर्णन उत्तराध्ययन में आता है। अस्पृश्यता निवारण किया, उनके द्वारा रचित जैनागमों के आधार पर ही। एकादश व्रतों के रूप में निम्न यथार्थ बातों का संग्रह किया इन नियमों के बल पर ही गांधी वादी आत्मोन्नति की और चरित्र शुद्धि की प्रेरणा प्राप्त करते हैं।

अहिंसा सत्य अस्तेय ब्रह्मचर्य असंग्रह
शरीरश्रम अस्वाद सर्वत्र भयवर्जन
सर्वधर्मी समानत्व स्वदेशी स्पर्श भावना
ही एकादश सेवायी नम्रत्वे व्रत निश्चये।

अन्त में जिज्ञासु पाठकों से आग्रह करता हूँ कि यदि हमारी सकीर्ण भावनाएं दूर हो जावें और महावीर के नाम पर मिथ्या दम्भ मद को दूर कर एकता का परिचय देने के लिये कटिबद्ध हो जावें तो विश्व में जैनधर्म का वास्तविक गौरव बढ़ सकता है। जबतक जैन समाज में मतवाद पक्षपात और गच्छवाद की भावना रहेगी। तब तक हमारे उपदेश व लेख कितने ही सुन्दर वा वाणी से भरपूर क्यों न हों, कभी भी एकता [illegible] नहीं कर सकते। इस [illegible] युग में हरप्रकार के [illegible] है। यदि एकमत होकर [illegible] सुनावें और [illegible] करें तभी [illegible] स्वामी को [illegible] अधिकारी हैं [illegible] सको [illegible] रहत है [illegible] वो [illegible]

की संख्या तक पहुंचा और अब भी बौद्धानुयायी बनते जा रहे हैं भारत सरकार भी बौद्ध धर्म को कितना प्रश्रय दे रही है। हमारी पारस्परिक फूट का ही परिणाम है कि भारत भर में वीर जयन्ती की छुट्टी सर्वत्र प्रचलित नहीं हुई है। यथाशि एकता के सूत्र में बंधकर ऐसा साहित्य सब भाषाओं में प्रकाशन कर अल्प मूल्य में जनसाधारण तक महावीर का सदेश पहुँचायें तो हम सच्चे वीरानुयायी बन कर जैन धर्म को विश्व धर्म बनाने का सक्रिय कदम उठायें पंच वर्षीय योजना को मूर्त रूप देकर हमें वीर जयन्ती पर अपने विकास का और उत्थान का ही विचार करना चाहिये आशा है सभी बन्धु इस भावना से प्रेरित होकर कार्योन्मुक्त होकर मानव धर्म के उपदेशक भगवान महावीर के वचनों का अनुसरण करते हुए वीर जयन्ती आदर्श कायम रखेंगे।

★ ★ ★

※ चापलूसी नकली सिक्का है और नकली सिक्के की भाँति अन्त में आपको कष्ट में डाल देगी यदि आप इसे चलाने का प्रयत्न करेंगे

※ भूख सहनेवाला तपस्वी महान् है तो दूसरे की भूख मिटानेवाला दानी भी कम नहीं है।

※ क्रोध जब सिंहासन पर बैठता है तब बुद्धि भाग खड़ी होती है

※ जब निष्कपट व्यवहार को दरवाजे से बाहर ढकेल दिया जाता है तब चापलूसी बैठक में आ बैठती है।

※ कर्म फल हैं जब कि शब्द पत्तियाँ

※ जीभ की अपेक्षा जीवन अधिक बोलता है

※ वह गरीब नहीं जिसके पास कम धन है वरन् गरीब वह है जिसकी अभिलाषाएं बढ़ी हुई हैं।

※ मानव का दानव होना उसकी हार है मानव का महामानव होना उसका चमत्कार है और मनुष्यका मानव होना उसकी जीत है।

—डा राधाकृष्णन

भगवान महावीर और उनके सिद्धांत

लेखक अगरचन्द नाहटा

जैन धर्म भारत का अत्यन्त प्राचीन धर्म है। जैन शास्त्रानुसार यह अनादि है। क्योंकि धर्म तो सनातन सत्य है उसकी उत्पत्ति बतलाई नहीं जा सकती। समय की आवश्यकता वश महापुरुषों का जन्म होता रहता है और वे युगानुरूप भाषा व शैली में धर्म का प्रचार करते रहते हैं। उन्हीं प्रचारकों को धर्म का प्रवर्तक माना जाता है। इस दृष्टि से जैन धर्म के आदि प्रवर्तक इस अवसर्पिणी काल में भगवान ऋषभदेव हुए जिन्हें वेदों में भी स्मरण किया गया है। भागवत आदि पुराणों में तो उन्हें अवतार माना गया है। उनके पश्चात् २० और तीर्थंकर हुए फिर २२ वें तीर्थंकर भगवान नेमिनाथ हुए। जो पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण के चाचा के लड़के (भाई) थे। उनके पश्चात २३ वें तीर्थंकर पार्श्वनाथ हुए जो आज से २८२७ वर्ष पूर्व बनारस में जन्मे थे। उनके निर्वाण के १७८ वर्ष बाद में अन्तिम तीर्थंकर भगवान महावीर का जन्म हुआ।

प्राचीन जैन एवं बौद्ध ग्रंथों के अनुशीलन से ज्ञात होता है कि उस समय धर्म के एकमात्र ठेकेदार ब्राह्मण लोग थे। गुरु पद पर वे ही 'सर्वेसर्वा' थे। उनकी आज्ञा राजा से भी अधिक मूल्यवान समझी जाती थी। राजगुरु भी तो वे ही थे। अतः उनका प्रभाव बहुत व्यापक था। सभी सामाजिक रीति रस्में एवं धार्मिक क्रिया काण्ड उन्हीं के सहयोग से होते थे, और इसीलिए उनका जातीय अहंकार बहुत बढ़ गया था। वे अपने को सबसे ऊंचा मानते थे। शूद्रादि जातियों के धार्मिक एवं सामाजिक अधिकार प्रायः सभी छीन लिये गये थे। इतना ही नहीं वे उन पर मनमाना अत्याचार भी करते थे।

यही दशा मूक पशुओं की थी। उन्हें यज्ञादि में ऐसा मारा जाता था मानो उनके प्राण ही न हों और इसे महान धर्म समझा जाता था। वेद विहित हिंसा नहीं मानी जाती थी।

इधर स्त्री जाति के अधिकार भी छीन लिये गये थे। पुरुष लोग जो मनमाना अत्याचार करते थे वे उन्हें निर्जीव की भांति सहन कर लेने पड़ते थे। उनकी कोई सुनवाई नहीं थी। धार्मिक कार्यों में भी उनको उचित स्थान न था।

अर्थात् रजो जाति बहुत कुछ पद-दलित थी।

यह तो हुई उच नीच, जाति वाद की बात। इसी तरह वर्णाश्रम वाद भी प्रधान माना जाता था। इसके कारण सच्चे वैराग्यवान व्यक्तियों का भी तृतीयाश्रम के पूर्व संन्यास ग्रहण उचित नहीं समझा जाता था।

इसी प्रकार शुष्क क्रिया काडों का उस समय बहुत प्राबल्य था। यज्ञ यज्ञादि स्वर्ग के मुख्य साधन माने जाते थे। बाह्य शुद्धि की ओर अधिक ध्यान दिया जाता था अन्तर शुद्धि की ओर से लोगों का लक्ष्य दिनों दिन हटता जा रहा था। स्थान-स्थान पर तापस लोग तापसिक बाह्य कष्टमय क्रिया-काड किया करते थे और जनसाधारण का भी उनपर काफी विश्वास था।

वेद ईश्वर कथित शास्त्र है। इस विश्वास के कारण वेदाज्ञा सबसे प्रधान मानी जाती थी। अन्य महर्षियों के मत गौण थे। और वैदिक 'क्रिया-काण्डों' पर लोगों का बहुत अधिक विश्वास था। शास्त्र संस्कृत भाषा में होने से साधारण जनता उनसे विशेष लाभ नहीं उठा सकती थी। वेदादि पढ़ने के एकमात्र अधिकारी ब्राम्हण ही माने जाते थे।

ईश्वर एक विशिष्ट शक्ति है। संसार के सारे कार्य उसी के द्वारा संचालित हैं। सुख दुःख एवं कर्म फल का दाता ईश्वर ही है। विश्व की रचना भी ईश्वर ने की है, इत्यादि बातें विशेष रूप से सर्व जन्य मान्य थी। इसके कारण लोग स्वावलम्बी न होकर ईश्वरके भरोसे बैठे रहकर आत्मोन्नति के सच्चे मार्ग में प्रयत्नशील नहीं थे। मुक्ति लाभ ईश्वर की कृपा पर ही निर्भर माना जाता था।

कल्याण पथ मे विशेष मनोयोग न देकर लोग ईश्वर की लंबी लंबी प्रार्थनाएं एवं यज्ञादि करने में ही निमग्न थे और प्राय: इन्हींमें अपने कर्तव्यों की "इति-श्री" समझते थे। उस समय अनेक प्रकार के मत मतान्तर प्रचलित थे। जनता उनमें से सच्चा किसे माने इस उलझन मे थी।

इस विकट परिस्थिति के कारण लोग बहुत अशान्ति भोग रहे थे। शूद्रादि तो अत्याचारों से ऊब गये थे। उनकी आत्मा शांति प्राप्ति के लिये व्याकुल हो उठी थी। वे शांति की शोध मे आतुर से हो गये थे। इसी समय भगवान—महावीर अवतीर्ण हुए। महावीर ने अशांति के कारणों पर बहुत मनन कर शांति के वास्तविक पथ का गम्भीर अनुशीलन किया। उन्होंने

पूर्व परिस्थिति की काया पलट किये बिना शांति लाभ को असम्भव समझकर अपने अनुकूल सिद्धांतों द्वारा क्रांति मचा दी। आपने जगत के वातावरण की कोई परवाह न कर साहस के साथ अपने सिद्धांतों का प्रचार किया उसके द्वारा विश्व को एक 'नया प्रकाश' मिला। महावीरके प्रति जनता का आकर्षण क्रमशः बढ़ता चला गया। फलतः लाखों व्यक्ति वीरशासन की पवित्र छत्र छाया में शांति लाभ करने लगे।

आज से २५६० वर्ष पूर्व वैशाली के निकटवर्ती क्षत्रियकुण्ड ग्राम में राजा सिद्धार्थ की पत्नी त्रिशला की की कुक्षि से आपका शुभ जन्म हुआ था। आपके गर्भ में आने के साथ-साथ ही राजा सिद्धार्थ के घर में धन धान्यादि की बहुत वृद्धि हुई। फलतः नामकरण के दिन आपका शुभ नाम 'वर्द्धमान' रखा गया। क्रमशः बढ़ते हुए आप जब बालकों के खेल में सम्मिलित होने लगे। एक दिन एक देव आपको भयभीत करने व आपकी बल—परीक्षा करने के लिये बालक का रूप धारण कर आपके साथ खेलमें शामिल हुआ। उस खेल का नाम आम्लक्रीड़ा था। उसका नियम यह था कि जो हारे वह जीतने वाले को अपनी पीठ पर उठाकर निश्चित ले जाये।

भगवान महावीर खेल में विजयी हुए और बालक का रूप धारण करने वाला वह देव बालक महावीर 'वर्द्धमान' को अपनी पीठ पर लाद कर अमुक निर्धारित वृक्ष तक ले चला। रास्ते में उसने अपना शरीर बहुत बढ़ा लिया, लेकिन बालक वर्द्धमान इससे लेश मात्र भी भयभीत नहीं हुए उन्होंने उसकी यह करतूत देखकर मात्र एक घूंसा उस देव की पीठ परजमा दिया। फिर चैतन्य होकर अपना निज स्वरूप धारण कर उनकी स्तुति करने लगा। भगवानवर्द्धमान को महावीर नाम से सम्बोधित किया और अपने धाम को चला गया। तभी से आप महावीर कहलाने लगे। यह घटना आपके विशिष्ट शारीरिक बल की द्योतक है। परन्तु इस महावीर नाम की यथार्थता तो आपके साधक जीवन में देखते हैं। अपने साधक जीवन में आपको अनेक भयानक उपसर्गों का सामना करना पड़ा। जिसको सुनकर बड़े मजबूत दिल वाला आदमी भी भयभीत एवं व्याकुल हो जाता है। बाहरी कठिनाइयों तथा आपत्तियों पर विजय पाना उतना कठिन नहीं, जितना कि आभ्यन्तरिक क्रोध, मान, माया, लोभ, मोहादि शत्रुओं पर विजय प्राप्त करना होता है। सच्ची वीरता तो इसी में है और इसे

भगवान महावीर ने अपने साधक जीवनमें भली भांति प्रगट किया । भगवान महावीर बड़े विनयी तथा संयमी थे । माता पिता, बंधु बांधव उनसे प्राणोपम स्नेह रखते थे । अतः माता पिता के रहते उन्होंने दीक्षा न लेने का संकल्प किया । भगवान गृहस्थाश्रम में रहते हुए भी वैराग्यवान थे । उनका माता पिता के अनुरोध से विवाह हुआ । एक पुत्री भी हुई । आपकी आयु २८ वर्ष की थी तब ही आपके माता पिता का स्वर्गवास हो गया । तब आपने पूर्व निश्चयानुसार अपने ज्येष्ठ भ्राता नंदीवर्धन से दीक्षा लेने की अनुमति मांगी, बड़े भाई ने कहा कि अभी माता पिता के वियोग का दुःख भी कम नहीं हुआ है । इस हालत में भी तुम मुझे छोड़ जाने का विचार कर रहे हो ? अभी मुझ में तुम्हारा वियोग सहने की शक्ति नहीं है । यह सुन कर विनयी और भातृभक्त वर्द्धमान अनिच्छा और अपने भाई की चित्तशांति के लिये गृहस्थाश्रम में रहे । इन दो वर्षों में आपने सन्यास अवस्था के कई नियमों का पालन किया । बाहरसे घर में रहते हुए भी सन्यासी की भांति विरक्त अवस्था में रहने लगे । नंदीवर्द्धन ने समझ लिया कि अब वे रुकने वाले नहीं हैं । अन्त में ३० वर्ष की आयु में सारी सम्पत्ति वितरण कर तथा सर्व वस्तुओं का त्यागकर प्रव्रज्या ग्रहण करली । उनकी निर्मोहिता अद्भुत थी । दीक्षा ग्रहण करने के बाद कभी भी उन्होंने अपने कुटुम्ब से व्यवहारिक संबंध स्थापित नहीं किया । उसके प्रति तनिक भी राग भाव नहीं आने दिया । मानव की इस कमजोरी पर उन्होंने पूर्ण विजय प्राप्त की ।

भगवान महावीर की क्षमाशीलता एवं स्वावलंबन का एक ज्वलंत उदाहरण उनके साधक-जीवन के प्रारम्भ में ही हम पढ़ते हैं । घटना इस प्रकार है —

दीक्षा लेने के बाद तुरन्त ही आप किसी दूसरी जगह चले गये । इससे स्थान के प्रति उनकी निर्मोहिता सिध्द होती है । एक समय आप जंगल में ध्यानावस्था में खड़े थे । एक गौओं को चराने वाले ग्वाले ने उनको देख कर कहा कि श्रमण मेरे इन बैलों का ध्यान रखना, मैं किसी काम से जा रहा हूँ । तुरन्त लौट आऊंगा । भगवान तो अपने ध्यान में निमग्न थे परन्तु ग्वाले ने समझा कि उन्होंने बैलों का सम्भालना स्वीकार कर लिया है । थोड़ी देर बाद वह ग्वाला वहां आया और अपने बैलों को वहां न देखकर भगवान से पूछने लगा । बैल चरते चरते दूर चले गये थे ।

महावीर तो इन सब बातों से उदासीन थे। उन्होंने इस ग्वाले को कोई उत्तर नहीं दिया। तब ग्वाले ने उन्हीं को चोर समझकर बैलों को बांधने वाली रस्सी को दुगुनी तिगुनी कर हंटर-सा बना लिया और भगवान को मारना पीटना प्रारम्भ किया। कहा जाता है कि इस कष्ट को देखकर स्वयं इन्द्र आ गये और उन्होंने ग्वाले को धमका कर वहां से हटा दिया। तत्पश्चात् इन्द्र ने भगवान से बड़ी विनयपूर्वक प्रार्थना की कि आपके इस साधक जीवन में बहुत समय तक बहुत से भयंकर उपसर्ग आने वाले हैं। इसलिए आप मुझे अपनी सेवा में रहने की आज्ञा दें ताकि मैं आपके उपसर्गों को हटाता रहूं। भगवान तो कर्मवादी थे। उनका सिद्धांत था कि कर्मों को बिना स्वयं भोगे छुटकारा नहीं। अतः जो भी कष्ट आवे उसे समभाव से सहन कर लेना ही मुक्ति का मार्ग है। आपने इन्द्र का वचन सुनकर कहा—हे इन्द्र! न कभी यह हुआ है और न कभी होगा ही कि अपने कर्मों का भोग नाश किसी और की सहायता से किया जाय। अपने कर्मों का फल अच्छा या बुरा जो भी हो साधक को भोगने के लिए चाहिए। अतः मुझे किसी दूसरे की सहायता की आवश्यकता नहीं। तैयार रहना जैसा उदय में आयगा आयगा।

महावीर का अधिकांश समय ध्यान तथा चिंतन में ही बीतने लगा। आवश्यकता होने पर वे कभी ग्राम तथा नगर में भिक्षार्थ आते थे। वे एक स्थान में चातुर्मास के अतिरिक्त अधिक समय तक नहीं ठहरते थे। आप पहाड़, गुफा, सूने स्मशान, जंगल में ही ध्यानावस्थित दशा में रहते थे।

एक बार आप "शूलपाणि यक्ष के मंदिर में ठहरे हुए थे। यह बड़ा क्रूर था। इससे रात्रि में उस मन्दिर में उसका पुजारी तक नहीं रहता था। पुजारी ने उनको सम्मति दी कि आप रात के समय यहां न ठहरिये। क्योंकि रात को यहां रहना भयावह है। पर आपको तो अपनी सहन शक्ति बढ़ानी थी। अहिंसक उपायों से क्रूर व्यक्ति को भी कोमल बनाना था। अतः आप वहां पर डटे रहे। आशंकानुसार रात्रि में उस यक्ष ने भगवान को बहुत डराया धमकाया तथा नाना प्रकार के हिंसक पशुओं का रूप धारण कर बहुत ही कष्ट दिया, पर भगवान ने सबको सम भाव से सहन किया। अन्त में थक कर यक्ष इनका भक्त बन बन गया और जनता का सदा के लिए भय दूर हो गया।

इसी प्रकार एक दूसरी

है। किसी जगल मे चण्डकौशिक नामक भयकर विषधर सर्प रहता था। उसके देखने मात्र से ही प्राणियों के शरीर मे विष व्याप्त हो जाता था। इसलिए उस मार्ग से कोई भी नही जाता था। आपको भी उस मार्ग से नही जाने के लिए लोगो ने कहा, पर आपको तो उस सर्प को भी अहिसक बनाना था। अत आप निर्भय होकर उस सर्प के बिल के आगे ध्यानावस्थित होकर खडे हो गये। सर्प बिल से बाहर निकला और किसी मानव को इस तरह नि शंक खडा देखकर बडा क्रोधित हुआ। उसने जोर से भगवान के पैरों को काटा। पैर से लोहू की धारा प्रवाहित हो गई। फिर भी भगवान को अडिग देखकर सर्प को महान आश्चर्य हुआ। उसको आश्चर्य मे देखकर भगवान ने कहा—"हे चण्डकौशिक! 'बुज्झ-बुज्झ' अर्थात "समझ समझ' क्यों व्यर्थ में कर्मा का बधन कर रहा है।' प्रभु के इन अमृतमय वचनों को सुनकर उसका हृदय आदोलित हो उठा। उसको अपने पूर्व भव का स्मरण हो आया। वह अपने इस भव के पापों को स्मरण करने लगा तथा दुःख से अधीर हो उठा। वह उस समय तक सहस्रों प्राणियों को अपने दशन से मौत के घाट उतार चुका था, किंतु आज वह इस महा पुरुष के दर्शन से बडा शांत और प्रभावित हो गया। उसने प्रतिज्ञा कर ली कि चाहे उसे कोई महान कष्ट भी दे तो भी वह उसे नही काटेगा। इस प्रकार वह अपना अहिंसापूर्वक जीवन व्यतीत कर स्वर्ग को प्राप्त हुआ। धन्य है प्रभु की धीरता, गभीरता, सहनशीलता व विश्व प्रेम।

भगवान महावीर को अपने १२॥ वर्ष के जीवन मे अनेक प्रकार के महान कष्ट उठाने पडे। कहीं आपको लोग चोर समझकर कुए मे डाल देते थे। कहीं आपको काटने के लिए कुत्तों को छोड दिया जाता था इत्यादि। इस प्रकार वे आप अनेक कष्टों को वीरतापूर्वक सहते थे। कभी किसी पर क्रोध का एक कण भी आपके हृदय मे नही उत्पन्न हुआ। एक समय की बात है कि किसी दुष्ट ने आपके दोनों कानों मे कील ठोक दी। वह कीलें कुछ समय बाद किसी कुशल व्यक्ति द्वारा निकाल दी गई। लेकिन आपने अपने हाथों से निकालने का प्रयत्न नही किया। आप अपने शरीर के प्रति अत्यन्त उदासीन रहते थे। प्रत्येक क्षण अपने आत्मानुभव मे मग्न रहते थे। आहारादि के सम्बन्ध में भी आपकी तपस्या बडी कठिन थी।

कभी १५ दिन, कभी १ महीना, कभी २ महीना पश्चात व अति अल्प आहार ग्रहण करते थे। इस तरह आप बड़ी उग्र तपस्या ध्यानादि करते थे।

इस भांति निर्मोही वैराग्यपूर्ण साधना करते हुए आपने समस्त कर्मों का विनाश किया। ४२ वर्ष की आयु में आपको "कैवल्यज्ञान" प्राप्त हो गया। अब प्रभु ने विश्व शान्ति के लिये क्रांतिकारी धर्म प्रचारित किया जो वीर शासन के रूप में प्रसिद्ध है।

कैवल्यज्ञान पाने पर ब्रह्माण्ड का प्रत्येक कण तक आपको प्रत्यक्ष दीखने लगा। विश्व की कोई भी वस्तु आपसे छिपी नहीं रह सकी। आपको संसार के समस्त जीव अजीव आदि पदार्थ आंखों के सामने प्रत्यक्ष दीखने लगे और संसार की कोई भी भाषा, साहित्य विज्ञान तथा भूत, भविष्य और वर्तमान इत्यादि समस्त वस्तुएं प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होने लगी। इस प्रकार कैवल्यज्ञान (सम्पूर्ण ज्ञान) प्राप्तकर आप धर्म के तत्वों का उपदेश करने लगे। आपके उपदेश से प्रभावित होकर तत्कालीन भारत के बड़े-बड़े राजे, महाराजे, श्रेष्ठी जन, पुरुष व स्त्रियां आपके धर्म में दीक्षित होने लगे। कितने ही बड़े बड़े विद्वान आपके ज्ञान से प्रभावित होकर आपके शिष्य बन गये। कहा जाता है कि आपकी शिष्य-मण्डली में १४००० साधु, ३६००० स्त्री साध्वियां, तथा गृहस्थों की संख्या तो लाखों पर थी। आपका भ्रमण क्षेत्र बिहार प्रांत था। इस प्रकार ३० वर्ष पश्चात् सत्य आत्म धर्म का प्रचार करते हुए ७२ वर्ष की आयु में कार्तिक वदी अमावस्या की रात्रि को पावापुरी नामक स्थान में आप निर्वाण (मोक्ष) को प्राप्त हुए। इस दिन वहां स्वर्ग से उतरकर देवताओं ने तथा वहां के मनुष्यों ने वृहद् दीप पुंज जलाए। इसीलिये भगवान महावीर के निर्वाण दिवस को दीपावली मनाई जाती है।

वीर शासन की अनेक विशेषताएं हैं। वीर शासन की सबसे बड़ी विशेषता विश्व मैत्री है। इस भावना द्वारा अहिंसा को धर्म में प्रधान स्थान मिला। सब [illegible] को धार्मिक अधिकार एक [illegible] दिये गये। पापी से पापी [illegible] एवं स्त्री जाति को [illegible] का अधिकारी घोषित किया [illegible] कहा गया मोक्ष [illegible] खुला है। [illegible] है उसका दो [illegible] जाति [illegible] की नीच [illegible] हो [illegible]

जोरों से खंडन करके उच्चता-नीचता के सम्बन्ध में जाति के बदले गुणों को प्रधान स्थान दिया गया।

सच्चा ब्राम्हण कौन है? इस पर व्याख्या की गई, जिनकी कुछ रूपरेखा जैनों के "उत्तराध्ययन सूत्र" एवं बौद्धों के "धम्मपद" में पाई जाती है। लोगों को यह सिध्दांत बहुत संगत एवं सत्य प्रतीत हुआ। फलतः लोक समूह झुण्ड के झुण्ड महावीर के उपदेशों को श्रवण करने के लिये उमड़ पड़े। उन्होंने अपना वास्तविक व्यक्तित्व लाभ किया। वीरशासन के दिव्य आलोक से चिर कालीन अज्ञानमय भ्रांत धारणा विलीन हो गई। विश्व ने एक नई शिक्षा प्राप्त की जिसके कारण हजारों शूद्रों एवं लाखों स्त्रियों ने आत्मोध्दार किया। एक सदाचारी शूद्र गुण विहीन ब्राम्हण से लाख गुना उच्च है अर्थात् ऊंचनीच का माप जाति से न होकर गुण सापेक्ष है। कहा भी है- "गुणा पूजास्थानं गुणिषु न च लिंग न च वयः"।

धार्मिक अधिकारों में जिस प्रकार सब प्राणी समानाधिकारी हैं, उसीप्रकार प्राणीमात्र सुखाकांक्षी है। जीने की इच्छा और मरण भय सभी में समान है। अतएव प्राणी मात्र के प्रति दयाभाव रखना वीर शासन का मुख्य सिद्धांत है। इसके द्वारा यज्ञयागादि में असंख्य मूक पशुओं का जो आए दिन संहार हुआ करता था, वह सर्वथा रुक गया। लोगों को इस सिध्दांत की सच्चाई का अनुभव हुआ कि जिस प्रकार हमें कोई मारने को कहता है तो हमें उस कथन मात्र से कष्ट होता है, उसी प्रकार हम किसी को सतायेंगे तो उसे अवश्य कष्ट होगा। पर-पीड़न में किसी को धर्म नहीं होता। मूक पशु चाहे मुख से अपना दुःख व्यक्त न कर सके पर उनकी चेष्टाओं द्वारा यह भलीभांति ज्ञात होता है कि मारने पर उन्हें भी हमारी भांति ही कष्ट अवश्य होता है। इस निर्मल उपदेश का जनसाधारण पर भी गहरा प्रभाव पड़ा और ब्राम्हणों के लाखविरोध करने पर भी यज्ञ-यागादि की हिंसा बन्द हो गई।

अहिंसा की व्याख्या वीरशासन में जिस प्रकार विशद रूप से पाई जाती है किसी भी अन्य दर्शन में वैसी उपलब्ध नहीं है। विश्वशांति के लिये इसकी कितनी आवश्यकता है यह महात्मा महावीर ने भलीभांति सिध्द कर दिखाया। कठोर से कठोर हृदय भी कोमल हो गये और विश्व आत्मोपम की अखण्ड धारा चारों ओर प्रवाहित हो चली।

वीरशासन में वर्णाश्रमवाद को

अनुपयुक्त घोषित किया गया। मनुष्य के जीवन का कोई भरोसा नहीं। हजारों प्राणी बाल्यकाल और यौवन अवस्था में मरण को प्राप्त हो जाते हैं। अतः आश्रमानुसार धर्म पालन उचित नहीं कहा जा सकता। सब व्यक्तियों का विकास भी एक समान नहीं होता। किसी आत्मा को अपने पूर्व संस्कारों एवं साधनाओं ■ द्वारा बाल्यकाल में ही सहज वैराग्य होता है। धर्म की ओर उसका विशेष झुकाव होता है। तब किसी जीव को वृद्ध होने पर भी गृहस्थाश्रम पालन के लिए विवश करना अहितकर है। अतः आश्रम व्यवस्था के बदले धर्म पालन व्यक्ति की योग्यता पर निर्भर रहना चाहिए। हां योग्यता की परीक्षा में असावधानी करना उचित नहीं है।

इस प्रकार ईश्वरवाद के बदले वीर शासन में कर्मवाद पर जोर दिया गया है। जीव स्वयं कर्म का कर्ता और वस्तुस्व भावानुसार स्वयं ही उसका फल भोक्ता है। ईश्वर शुद्ध बुद्ध है। उसे सांसारिक झंझटों से कोई मतलब नहीं। वह किसी को तारने में भी समर्थ नहीं। यदि लम्बी लम्बी प्रार्थनाओं से ही मुक्ति मिल जाती है तो संसार में आज अनंत जीव दुःख उठाते शायद ही मिलते। जीव अपने भले बुरे कर्म करने में स्वयं स्वतंत्र है। पौरुष के बिना मुक्ति लाभ संभव नहीं अतः प्रत्येक प्राणी को अपना निज स्वरूप पहिचान कर अपने पैरों पर खड़े होने का अर्थात् स्वावलम्बी बनकर आत्मोद्धार करने का सतत प्रयत्न करना चाहिए। ईश्वर न तो सृष्टि रच यिता है और न कर्म फलदाता।

शुष्क क्रिया-काण्डों और बाह्य शुद्धि के स्थान पर वीर शासन में आंतरिक शुद्धि पर पूरा बल दिया गया है। अतः शुद्धि ही साध्य है। अतः साध्य को लक्ष्य किये बिना क्रिया फलवती नहीं होती। केवल जटा बढ़ा लेने, राख लगा लेने, नित्य स्नान करने, पचाग्नि तप से ही सिद्धि नहीं मिल सकती। क्रिया के साथ भावों का होना नितांत आवश्यक है। विवेकहीन क्रिया बेकार है।

वीर प्रभु ने अपना उपदेश जन साधारण की भाषा में दिया। क्योंकि धर्म केवल पंडितों की सम्पत्ति नहीं, उस पर प्राणी मात्र का समान अधिकार है। यह भी वीर शासन की एक विशेषता है। उसका लक्ष्य एकमात्र विश्व कल्याण का था।

"सूत्र कृतांग सूत्र" में स्पष्ट है कि भगवान महावीर के समय

ने भी वर्तमान की भांति अनेक मत मतांतर प्रचलित थे। इस कारण जनता बड़े भ्रम में पड़ी थी कि किसका कहना सत्य एवं मानने योग्य है और किसका असत्य? मत प्रवर्तकों में सर्वदा मुठभेड़ हुआ करती थी। एक दूसरे के प्रतिद्वन्दी रह कर शास्त्रार्थ चला करते थे। आपसी मात्सर्य से अपने अपने सिद्धान्तों पर प्राय सब अड़े हुए थे। सत्य की जिज्ञासा मंद पड़ गई थी। तब भगवान महावीर ने सबका समन्वय कर वास्तविक सत्य प्राप्ति के लिये 'अनेकांत' को अपने शासन में विशिष्ट स्थान दिया जिसके द्वारा सब मतों के विचारों को सम भाव से तोला जा सके। इस सिद्धान्त द्वारा लोगों का बड़ा कल्याण हुआ। विचार उदार एवं विशाल हो गये, सत्य की जिज्ञासा पुन प्रतिष्ठित हुई, सब वितण्डावाद एवं कलह शांत हो गये और इस तरह वीर शासन का सर्वत्र जय जयकार होने लगा।

विश्व की अशान्ति के मूल में भगवान महावीर ने परिग्रह, हिंसा एवं विचार भेद को पाया। हिंसा की वृत्ति का उन्मूलन अहिंसा सिद्धांत से हो जाता है और विचार भेदों का समन्वय स्याद्वाद या अनेकान्त वाद से। संग्रहवृत्ति के कारण जो संघर्ष तथा युद्ध होते हैं उनके लिये आपने एक महत्व पूर्ण नियम प्रचारित किया जिसका नाम अपरिग्रह है। मुनियों के लिये तो परिग्रह अर्थात संग्रहवृत्ति सर्वथात्याज्य है ही। पर श्रावक के लिये भी परिग्रह परिमाण व्रत तथा भोगोपभोग परिणाम व्रतों का उपदेश करके संग्रहवृत्ति पर अकुंश लगा दिया गया। उनका उपदेश था सम्पूर्ण परिग्रह के त्याग की शक्ति न हो तो कम से कम आवश्यकता से अधिक संग्रह तो मत करो। आवश्यकताओं को घटाते रहने का पूर्ण लक्ष्य रखो तथा प्रयत्न करो। जीवन स्वल्प है। इच्छाएं अनन्त हैं। परिग्रह ही अशान्ति का कारण है, पाप तथा अनर्थ का प्रधान कारण है। अत अपनी इन्द्रियों एवं इच्छाओं पर अकुंश रखो। इसप्रकार कल्याण के लिये भगवान महावीर ने अनेक उपाय बताये। इनको अपनाकर हम सब कल्याण भोगी बनें, यही शुभेच्छा है।

★ अगर तूने स्वर्ग और नरक नहीं देखा है तो समझले उद्यम स्वर्ग है और आलस्य नरक।

—अज्ञात

क्या जैन धर्म प्रवृत्ति निषेधक है ?

लेखक श्री कस्तूरमल बांठिया

★

जैनाचार्य यही कहते आये हैं कि —

न वि किंचि अणुण्णायं,
पडिसिद्धं वावि जिणवरिंदेहिं।
तित्थयराण आणा,
कज्जे सच्चेण होयव्वं॥ (नि भा गा ५२४८, बृ क भा गा ३३३०,

उपदेशपद गा ७७०) अर्थात् तीर्थंकर देवों ने न तो किसी बात का एकान्त विधान किया है और न किसी बात का एकान्त निषेध ही किया है। उनकी एक ही आज्ञा है कि जो भी कार्य किया जाय, उसमें सत्यपूत होकर हम रहें, उसे नेकनियती से करते रहें। आश्चर्य है कि फिर भी जो यह कहा जाता है कि भगवान ने प्रवृत्ति का निषेध और निवृत्ति का विधान ही जैन धर्म में किया है, यह कुछ समझ में नहीं आता है। कोई जैन धर्म को 'एकाश्रमी संस्था' कहता तो कोई और कुछ कहता है।

यदि हम जीव मात्र का अंतिम ध्येय मोक्ष याने जन्म जरा मृत्यु के फेरे से निस्तार पाना स्वीकार करते हैं, और इस विषय में जैन धर्म यदि यह कहता है कि इस ध्येय के लिये गृहस्थाश्रम आवश्यक नहीं है अथवा यह कि इसकी सिद्धि का शीघ्रतम मार्ग सच्चा सन्यास है तो इसका यह तात्पर्य निकालना कि जैनधर्म प्रवृत्ति का निषेध करता है शब्दों के अर्थों को खींच तान सा ही लगता है। प्रवृत्ति तो प्राणियों के शरीरान्त पर ही बंद होती है।

प्रवृत्ति को जैन परिभाषा में 'क्रिया' कहते हैं जिसे भगवतीसूत्र में पांच प्रकार की कहा है। हम अपनी यह विचारणा आगे बढ़ायें इससे पूर्व हमें यह बात अच्छी तरह समझ लेना आवश्यक है कि जीव निष्क्रिय तभी होता है जब कि वह योग (प्रवृत्ति) निरोध कर शुक्लध्यान में शैलेशी (शैल जैसी निश्चल) दशा प्राप्त करता है। वैसा जीव आरम्भादि क्रियाएं नहीं करता है, अतः वैसे जीव की मुक्ति होती है। जब तक शरीर है तब तक प्रमाद के कारण और योग याने शरीरादि की प्रवृत्ति के कारण

श्रमण निर्ग्रन्थों को भी क्रिया होती है। (भग श २ उ ३) जब तक आयुष्य शेष है, केवली होने के पश्चात केवल ज्ञानी के प्रवृत्ति क्रिया होने की बात भी जैन धर्म को स्वीकार है। फिर आत्मसाधना परक ही प्रवृत्ति श्रमण निर्ग्रन्थों की होती हो सो भी बात नहीं है। भगवान महावीर केवलज्ञानी होने के बाद ३० तक धर्मोपदेश आदि विविध प्रवृत्तियाँ करते रहे थे और उनमें से ही एक थी न केवल चतुर्विध संघ की स्थापना ही, अपितु संघ-व्यवस्था का विधान निर्माण और संघ शासन भी। जो सर्वविधान भगवान ने बनाया था वही सामयिक कुछ कुछ संशोधन, परिवर्तन और परिवर्धन के साथ आज तक चलता रहा है और जब तक जैन धर्म कायम रहेगा, चलता ही रहेगा।

जैनों का यह संघ सदा से चतुर्विध ही रहा है, याने साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका चारों का यह माना गया है। पक्षान्तर में बौद्धसंघ प्रारम्भ में त्रिविध याने भिक्षु, उपासक और उपासिका का ही था। बाद में शिष्य आनन्द ने आग्रह कर और स्त्री पुरुषों की धर्म साधना में समानाधिकार की दुहाई देकर भगवानबुद्धसे भिक्षुणी का भी उसमें समावेश कर दिया। भगवान बुद्ध ने भिक्षुणी को संघ में स्थान तो दे दिया, पर उन पर आठ प्रतिबंध लगाकर ही उन्होंने ऐसा किया था। इन प्रतिबन्धों में से प्रमुख यह था कि लम्बी अवधि की प्रव्रजित भिक्षुणी तक भी तत्काल के दीक्षित भिक्षु को वंदन करेगी। फिर यह भी भगवान् बुद्ध ने आनन्द को भविष्यवाणी कर दी कि उनके संघ में ब्रह्मचर्य शुद्ध पालना १००० वर्ष तक होते रहने की उन्हें जो आशा थी, वह अब ५०० वर्ष तक की ही रह गई है। भगवान महावीर ने अपने संघ में प्रारम्भ से ही स्वतः और बिना किसी भी प्रतिबंध के साध्वियों को स्थान दिया और उन्हें ऐसी शंका हुई ही नहीं थी कि उनके संघ में ब्रह्मचर्य की पालना सदा ही नहीं होती रहेगी। आज अवश्य ही जैन संघ में साध्वियों को साधु के समान ही सब अधिकार प्राप्त नहीं है, परन्तु जैन साध्वी नव-दीक्षित साधु को भी लंबी अवधि की दीक्षित वंदन करे ऐसा उल्लेख ७ वीं सदी विक्रमी के रचित बृहत्कल्पभाष्य में और ऐतिहासज्ञों के मत से ७८ वीं सदी में होने वाले परंतु जैन परम्परानुसार भगवान के ही हस्तदीक्षित धर्मदास गणि की उपदेशमाला में ही पहले पहल हमें मिलता है। साध्वियों पर अनेक प्रतिबंधों ये लगा दिए

जाने से ही कदाचित् जैन परम्परा के इतिहास में कोई भी साक्षी नहीं पकड़ पाई जहां कि आचार्यों और साधुओं की सतत परम्परा बराबर चलती ही रही है।

कहने का तात्पर्य इतना ही है कि वैयक्तिक धर्म होते हुए भी जब जैन धर्म में चतुर्विध संघ की स्थापना कर दी गई तो उसके रक्षण पोषण का विधान एवं इस विधान की प्रतिपालना के लिए अनेक प्रकार के दण्ड-प्रायश्चित्तादि एवं उनके शासन की आवश्यक प्रवृत्तियां भी जैसी कि मन्वादि स्मृतियों में सांसारिक व्यवहारों के लिए हम पाते हैं, भगवान को और उनके परवर्ती युगप्रधानों को, कम से कम साधु साध्वियों के लिए तो करना ही पड़ी, यही नहीं अपितु इनका अंतिम निर्णय भी उन्हें ही लेना पड़ता था और आज भी लेना पड़ता है। साधु साध्वियों की समस्याओं के विचार के लिए चतुर्विध संघ कभी न तो आमंत्रित ही किया जाता था और न अंतिम निर्णय ही वह कभी देता था। यह साधुओं का ही अपना अधिकार रहा है। श्रावकों-गृहस्थों की सांसारिक प्रवृत्तियों में स्मृतिकारों व ब्राह्मणों की भांति जैन साधुओं ने न तो किसी प्रकार का निर्णय कभी दिया और न कभी उनसे ऐसा निर्णय मांगा ही गया है।

क्या इसका कारण भगवान महावीर की प्रवृत्ति मार्ग के प्रति उपेक्षा ही है? अतः भगवान महावीर द्वारा सीधी रीति से सांसारिक व्यवहारों पर उपदेश नहीं दिए जाने के कारण का भी हम संक्षेप में यहां विचार कर लें।

धर्म प्रवर्तन का उपदेश युग की आवश्यकतानुसार ही होता है श्रीमद् भगवद्गीता में यह कहा गया है कि —

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति
भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं
सृजाम्यहम्॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च
दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि
युगे युगे॥
अ० ४ श्लो० ७—८

यह निःसन्देह सत्य है और इसका एक प्रकार से हमारे जैन पुराणों से भी समर्थन होता है। हमारे आदि तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव युगलिया-युग की याने अकर्मण्य युग की प्रायः समाप्ति पर ही हुए थे। वे धर्मयोगी और पूर्णपुरुष ही थे जैसे कि हिन्दुओं के कृष्ण पूर्णपुरुष या पूर्णावतार थे। उनका जीवन समग्र दृष्टि से अथवा सामाजिक सुव्यवस्था की दृष्टि से पूर्ण था एवं उनके जीवन

के सभी क्षेत्रों का तत्कालीन मनुष्यों को निर्भीक होकर उपदेश दिया था क्योंकि इनके पूर्व उनका कोई भी सामाजिक जीवन नहीं था। ऐसा जीवन उन्हें प्रारंभ करना ही नहीं अपितु जीना भी युग ने अनिवार्य कर दिया था। कालांतर में जीवन संघर्ष जैसे बढ़ता गया, मानव ने जीवन निर्वाह और रक्षार्थ अपनी बुद्धि व प्रज्ञा से नई नई प्रवृत्तियां स्वयं खोज निकाली और वह उनमें इतना रचपच भी गया कि परवर्ती धर्म प्रवर्तकों को प्रवृत्ति के स्थान में समाज का जीवन सुरक्षित रखने को संयम-मूलक जीवन के लाभ दिखाकर निवृत्ति का उन्हें उपदेश देना ही अनिवार्य उसी तरह हो गया कि जैसे आज पंचशील के सिद्धांत का उपदेश देना नेहरूजी जैसे व्यक्तियों को हो गया है। क्योंकि मानव प्रवृत्तियों के प्रवाह में उत्तरोत्तर उसी प्रकार नीचे गिरता जा रहा था कि जैसे ढाल पाकर पानी नीचे से नीचे लुढ़कता जाता है। किसी एक ही वर्ग या वर्ण की प्रवृत्तियां हीन से हीनतर नहीं होती जा रही थी। अपितु सभी की। अन्तर यदि था तो व्यक्तियों में पर वह भी अंश का ही क्योंकि व्यक्ति व्यक्ति बुद्धि में, प्रज्ञा में, विकास में और लक्ष्य में भिन्न भिन्न था। आज जैसे नैतिक पतन की शिकायत और चारित्रिक उत्थान की मांग बढ़ती जा रही है, ऐसी ही स्थिति समाज के व्यक्तियों की प्रायः प्रत्येक धर्म-संस्थापक के प्रादुर्भाव के पूर्व रही होगी, यह सहज ही समझा जा सकता है।

यही कारण है कि 'भगवान महावीर के पुरुषार्थ की दिशा डॅाक्टर व सुखलालजी कहते हैं, सामाजिक जीवन के बारे में उपदेश देने की अथवा निर्माण करने का नहीं थी। जो सामाजिकजीवन प्रवृत्ति धर्म के ऊपर संगठित और रचा हुआ था वह तो चालू ही था परन्तु उस धर्म के एक हिस्से के तौर पर त्यागी जीवन के स्वरूप, अधिकार या आचरण में जो विकृतियां, शिथिलताएं और गलत फहमियां दाखिल हो गई थी उनका वैयक्तिक आचरण से संशोधन करना महावीर का जीवन धर्म था। अथवा यों कहें कि जैसे कोई सुधारक पुरुष सिर्फ ब्रह्मचर्य आश्रम तक का सुधार ही अपने हाथ में ले, अथवा कोई दूसरा गृहस्थाश्रम तक का ही सिर्फ सुधार अपने हाथ में ले, उसीतरह भगवान महावीर ने त्याग-आश्रम का सुधार करने का ही काम अपने हाथ में लिया। (चार तीर्थंकर, पृ. १०)

परन्तु हमें यह भी स्वीकार करना ही होगा कि उनने ऐसा

करते हुए भी प्रचलित समाज-व्यवस्था को नष्ट भ्रष्ट करने का कभी भी कोई प्रयत्न नहीं किया जैसा कि आज के कथाकथित सुधारक करते देखे जाते हैं। उन्होंने जहां आत्मवादियों को उनकी बुराइयों और कमजोरियों होने का अवसर ही अधिक दिखाया, वहां अनियंत्रित परिग्रह से होने वाली अनैतिकताएं प्रकट बुराइयों की ओर ध्यान दिलाते हुए, परिग्रह को भी अपितु उनकी कठोर इच्छा को सीमित करने का भी उन्होंने ही जोरदार शब्दों में उपदेश दिया था। परिग्रह की इच्छा वाले लोभ ही तो सब पापों की जड़ है। परन्तु उनकी इच्छा का सीमित करना, मर्यादित ही का सीमित करना तो नहीं कहा जा सकता है और न वैसा कहा ही नहीं जाना चाहिये। इस दृष्टि से भगवान महावीर को प्रवृत्तिधर्मी सामाजिक व्यवस्था का उच्छेदक तो कहा ही नहीं जा सकता है। अपने को ज्ञाता या दृष्टा समझते हुए प्रवृत्ति करने का प्रवृत्ति वादियों को महात्मा गांधीजी जो उपदेश देते थे, उसका भी तो यही तात्पर्य था कि वे निजी लाभ के लिये प्रवृत्तियां नहीं करें क्योंकि इससे जनता का शोषण एवं दारिद्र बढ़ता है जो किसी के लिये भी हितकर नहीं है।

गुण-कर्मानुसार वर्ण-व्यव
थे तो भगवान् पूर्ण समर्थक
प्रवृत्ति का रूप तो यहीं स्पष्ट
है न कि जन्मगत-व्यवस्था।
काल के समय में यह गुण-कर्म
जन्माधारित वर्ण-व्यवस्था
परम्परागत होकर बहुत ही वि
हो गई थी जैसी कि वह आज
है। भगवान महावीर ने उस
सिर से गुण-कर्मानुसार माने
समर्थन यह कहकर किया था कि

कम्मुणा बंभणो होइ, कम्मु
होइ खत्तिओ।
वइसो कम्मुणा होइ, सुद्दो
कम्मुणा
उत्त० २५

इतना ही नहीं अपितु ब्राह्म
कैसा होना चाहिए यह भी उ
सूत्र के इसी अध्ययन की ३०
३० गाथा में भगवान ने बता दि
है और विषय का उपसंहार क
हुए कह दिया है कि 'सिर मुं
मात्र से कोई श्रमण नहीं हो
'ॐ' का जाप कर लेने मात्र
कोई ब्राह्मण नहीं होता, निर्ज
वन में रहने मात्र से कोई मु
नहीं होता और न कुश के व
वस्त्र पहन लेने मात्र से को
तपस्वी होता है। समता से श्रम
होता है, ब्रह्मचर्य से ब्राह्मण हो
है, ज्ञान से मुनि होता है और त
से तपस्वी होता है। "श्रीम

भगवद्गीता" में ब्राह्मण के जो लक्षण बताए गए हैं, वे जैन सूत्र में बताए लक्षणों से जरा भी भिन्न नहीं है क्योंकि गीता में कहा है कि—

शमो दमस्तप शौचशान्तिरार्जवमेव च।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम् ॥
अ० १८, ४२

जैन शास्त्रों में श्रमण ब्राह्मण के कर्मों पर सूक्ष्मातिसूक्ष्म विवेचन किया हुआ हमें मिलता है, परन्तु क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के कर्मों पर उस प्रकार से स्पष्ट लिखा बहुत ही कम मिलता है जैसा कि हिन्दू धर्म की स्मृतियों में है। परन्तु क्षत्रियों, वैश्यों और शूद्रों की जीवनियों से तो जैन कथा ग्रन्थ भरे हुए हैं और उनमें क्षत्रियों की दिग्विजय, वैश्यों के कृषि वाणिज्य, और शूद्रों के शिल्प आदि का वैसा ही वर्णन है जैसा कि हिंदू पुराणों में है। जैनों का सातवां अ ग 'उवासगदसाओ' जिन आदर्शरूप दस उपासकों की साधना का वर्णन करता है उनमें से एक सद्दाल पुत्त कुम्हार याने शूद्र था। और वह अनेक प्रकार के मिट्टी के बरतन बनाता-बनवाता था और उन्हें अपने ५०० हाटों से बेचता बिकवाता था। वह कृषि भी अवश्य ही करता था क्योंकि उसके भी दस हजार गायों का एक व्रज था। अन्य उपासकों के व्रजों की संख्या तो यहां चार, छह और किसी की आठ तक भी बताई है। इतनी अधिक संख्या में गौए रखने वाले गृहस्थों में से एक आनन्द ने जब भगवान से उपासक के बारहव्रत स्वीकार किए तो उसने अपनी इच्छाओं की मर्यादा, जिसे परिग्रह परिमाण व्रत भी कहा गया है, इस प्रकार की थी—

(१) चार करोड़ पाली (माप विशेष) सुवर्ण निधि रूप में, चार करोड़ पाली ब्याज पर, और चार करोड़ पाली घर-व्यवहार में रखने से अधिक हिरण्य-सुवर्ण रखने का मुझे त्याग है।

(२) दस दस हजार गौओं के चार व्रजों के अतिरिक्त अधिक पशु रखने का मुझे त्याग है।

(३) पांच सो हल से जोती जा सके उतनी भूमि से रखने का मुझे त्याग है।

(४) ग्रामो ग्राम जाने वाले ५०० और खेतों में माल लाने और ले जाने के ५०० इस प्रकार कुल एक हजार गाड़ों से अधिक गाड़े रखने का मैं त्याग करता हूँ।

(५) यात्रा करने को चार और माल-ताल लाने ले जाने को चार, कुल आठ जहाजों से अधिक जहाज रखने का मैं त्याग करता हूँ।

"स समय उसके पास इतनी चर अचल सम्पत्ति तो थी ही, और व्रत लेते समय = तो उसने उसमें स्वय कोई कमी की और न उससे अधिक आगे संग्रह करने की इच्छा ही रखी। यही कारण है कि उसके व्रत नियम को 'इच्छाविधिपरिमाण' कहा गया है। भगवन् महावीर ने भी उसे किसी विषय में कुछ भी नहीं कहा क्योंकि उनका तो सिद्धात सदैव ही 'जहासुह देवाणुप्पिया' का रहा था। अर्थात् हे देवाणुप्रिय! जिसमें तुम्हें सुख हो वैसा करो, परन्तु 'मा पडिबन्ध करेह' याने प्रतिबध रुकावट मत करो। ऐसा तो सभी शुभचिंतक कहते हैं, अन्यथा यह कहावत ही क्या प्रत्येक के मुख पर चढी रहती कि-

काल करे सो आज कर, आज करे सो अब।
अवसर बीती जात है, फेर करेगो कब॥

इसके सिवा आनन्द ने स्थूल और संकल्पी हिंसा नहीं करने और करवाने का, असत्य नही बोलने और बुलवाने का, चोरी नहीं करने और करवाने का एवं स्वदारा में सतुष्ट रहने का भी व्रत लिया था। पर इन कामों के अनुमोदन करने का अथवा उसके नौकर चाकर, पुत्र कलत्र भी ऐसा नही करेंगे इसका त्याग नही किया था क्योंकि चाहे ये लोग उससे पूछ कर ऐसे काम करते हों या स्वत करते हो, फिर भी उनके लिए ऐसे कामों में उसकी अनुमति नहीं है या होगी, ऐसा कौन कहता और मानता? बस इसलिए उसने प्रत्यक्ष या परोक्ष कैसे ही अनुमोदन का त्याग नही किया था। सोचने की बात यह है कि जो इतनी भूमि, इतना गोव्रज, इतना व्यापार व्यवहार रखेगा, करेगा, वह खेती आदि सभी प्रकार की व्रती होने पर भी, प्रवृत्तिया नहीं करेगा या करता होगा ऐसा कहने का दुस्साहस समझदार तो कर ही नही सकता है। इन आनन्दादि उपासकों ने पूरे पन्द्रह वर्षों तक इन सब व्रतो का पालन किया था और उसके बाद ही अपने ज्येष्ठ पुत्र को सारे कारबार सौंप साढे पाच वर्ष में पूरे होने वाले श्रावक की ग्यारह प्रतिमाओं की कठोर धर्म का आचरण करना स्वीकार किया था और इस अवधि के पूर्ण हो जाने पर अपने शरीर की सयम साधना के अनुपयुक्त स्थिति देख-समझ कर ही अन्त में मरणान्तिक सलेखना करके उसने इहलीला समाप्त की थी। क्या इसमें किसी भी प्रकार से चार आश्रम की व्यवस्था का उल्लंघन प्रमाणित होता है? यदि

नही तो जैन धर्म को एकाश्रमी संस्था कहने का कोई भी कारण नही है।

क्या इस प्रकार का धर्म जीवन बिताने वाला प्रवृत्ति धर्म से विमुख कहा जा सकता है ? और यदि यही निवृत्ति है तो फिर हम आज क्यों ऐसी प्रवृत्ति से अपने को दूर रखना धर्म समझे हुए हैं ? यह बात दूसरी है कि उस काल में आज जैसे यन्त्रचालित उद्योग किसी ने नही किए या चलाए थे। परन्तु इस विषय में तो जैनी ही क्यों, सभी धर्मानुयायी तब समान थे। फिर तब न तो आज जैसा यान्त्रिक युग ही था और न धन्धे से धन उत्पन्न कर देशवासियों को ही नही अपितु परदेशियों तक को पराश्रित और शोषण करने के अर्थ शास्त्र का उदय या विकास ही तब हुआ था। यह तो सब पिछले ५०० वर्ष की ही अधिक से अधिक नीति हुई है। कहने का तात्पर्य इतना ही है कि उस युग के अनुरूप इन उपासकों की भरपूर प्रवृत्तियां थी।

खेद यही है कि जैसी उपासकदशाओं में इन दस आदर्श उपासकों वैश्यों की जीवनियां हमे उपलब्ध हैं, वैसी क्षत्रियादि अन्य वर्ग के वीरों के कोई भी व्रती जीवनवृत्त उपलब्ध नही हैं कि जिन्ने महाव्रतरूपी धर्म स्वीकार नही कर, यह अणुव्रतरूपी श्रावक धर्म ही स्वीकार किया था। यदि ये उपलब्ध होते तो हमे यह पता लग जाता कि उनने किस प्रकार की इच्छाओं का परिमाण किया था।

हेमचन्द्राचार्य ने त्रि. श. पु. चरित्र, पर्व १ सर्ग ३ में कहा है कि भगवान ऋषभदेव की पहली ही देशना सुनकर भरत ने श्रावक धर्म स्वीकार कर पहला श्रावक बन गया था और इसके बाद उसने छह खण्ड की विजय कर अपना नाम काकिणी रत्न से इस अवसर्पिणी के प्रथम चक्रवर्ती रूपसे अंकित किया था। इस विजय में उसे विद्याधरों से बारह वर्ष तक क्रूर घमासान युद्ध भी करना पड़ा था। (वही, सर्ग ४) ऐसा हेमचन्द्राचार्य का यहां कहना यदि हम मानते हैं तो फिर जैन धर्म को प्रवृत्ति निषेधक हम कह ही कैसे सकते हैं? आलसी जैसे अपनी अकर्मण्यता किसी और के सिर मंढता है वैसे ही जिन्हें प्रवृत्त नहीं करना हो वे ही उसके लिये धर्म की आड़ लेकर भोले लोगों को भ्रमित करते हैं। स्वयं आक्रमण नहीं करने की इच्छा का निरोध करने वाला भी आक्रामक को चुपचाप सह लेनेका व्रत क्या ले सकता है अथवा राज्य करना ही छोड़ देता है ? महाराजा कुमारपाल न जैन हो जाने पर

हेमचन्द्राचार्य से श्रावक के व्रत स्वीकार किये थे और इनके स्वीकार करने पर उनकी शासन नीति और परराष्ट्र नीति कैसी रही थी इसकी परिपूर्ण खोज करने से भी इस अति आवश्यक विषयपर पूर्ण प्रकाश पड़ेगा और इतिहास के विद्यार्थी, विशेषतः इतिहास के जैन विद्यार्थी इसे ही अपने अनुसंधान का विषय बनाएंगे तो वे इतिहास के साथ साथ जैन धर्म की भी अविस्मरणीय सेवा करेंगे। उनका ध्यान मैं भगवान महावीर के समकालीन और उनके अनन्य अनुयायी महाराजा चेटक, वैशाली के गण सत्ताक राज्य के नायक, की ओर आकर्षित करता हूं जिसके विषयमें जैन परंपरा यह कहती है कि उसने स्वयं आक्रमण नहीं करने का व्रत ले रखा था परन्तु आक्रामकों से अपना बचाव करने में उसने कभी किसी बात में यहां तक कि घमासान युद्ध तक करने में कमी नहीं रखी थी। उसकी इस नीति का प्रत्यक्ष प्रमाण यही है कि शरणागत की रक्षा करने को उसने उस काल के चक्रवर्ती महाराजा कुणिक अजातशत्रु से युद्ध करना ही परम धर्म समझा था।

क्या बारह भावना ही जैनधर्म को एकाश्रमधर्मी बना सकती है। हिंदूधर्म में चार आश्रम कहे गये हैं ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास। जैन धर्म में ऐसे कोई चार आश्रम नहीं हैं और न जैनधर्म प्रत्येक आश्रम की प्रतिपालना आत्मार्थी के लिये अनिवार्य ही मानता है। वैदिकधर्म में प्रारंभ से ही चार आश्रम की व्यवस्था थी अथवा दो आश्रम की व्यवस्था और यदि दो तो उसमें बादके दो आश्रमों की व्यवस्था का प्रवेश कब, क्यों व किसके प्रभाव से हुआ, इसका विचार करना हमारे लिये विषय से विषयान्तर होगा। फिर भी इतना तो सत्य है ही कि वेदों में स्वर्ग और शतायु होने तक की ही पहले कल्पना थी और उपनिषद् काल में ही मोक्ष की कल्पना का उसमें प्रवेश हुआ। चाहे जो भी हो, ब्रह्मचर्याश्रम को तो जैन धर्म में भी उतना ही ऊंचा स्थान प्राप्त सदा ही रहा जितना कि हिंदू-धर्म में है। गृहस्थाश्रम की भी जैन धर्म ने कभी उपेक्षा नहीं की इतना ही नहीं अपितु उतना ही सम्मानस्पद स्थान दिया है अन्यथा संघ के चतुर्विध रूप की कल्पना संभव ही नहीं हो सकती थी। चौबीस तीर्थंकरों में से बीस, दिगम्बर सम्प्रदाय की मान्यतानुसार उन्नीस, पूर्ण गृहस्थाश्रम भोगकरही प्रव्रजित हुए थे। इनमें से ३ तो सार्वभौम चक्रवर्ती थे। फिर श्रीकृष्ण और राजा श्रेणिक के आजीवन गृहस्थी [illegible] नहीं अपितु पूर्णप्रतिज्ञा

करते हुए भी तीर्थंकरत्व जैसे सर्वोत्कृष्ट पद का कर्मबंध लेने का भी जैन धर्म स्वीकार करता है ऐसी दशा म जैनधर्म को गृहस्थाश्रम की अवहेलना अथवा अवगणना करने वाला तो कहा ही नहीं जा सकता है। फिर ब्रह्मचर्य की रक्षा के जितने कठोर नियम जैन धर्म ने बनाये और पालन किये हैं, उतने हिन्दूधर्म ने न तो बनाये न कभी पालन ही किये हैं। इसीलिये वहां हमे नामी नामी ऋषियों के कामासक्त होकर पतन हो जाने के भी अनेक उदाहरण मिलते हैं जबकि जैनधर्म मे ऐसे उदाहरण विरल ही नहीं, अपितु अत्यन्त विरल हैं। जैनों के स्थूलिभद्रमुनि, और गृहस्थ विजय सेठ और विजया सेठानी जैसे अखण्ड ब्रह्मचारी के से उदाहरण हिन्दू पुराणों मे कहा है? इस विजय सेठ और विजया सेठानी ने तो तब तक निवृत्तिधर्म स्वीकार ही नही किया था जब तक कि उनके इस अखण्ड ब्रह्मचर्य की बात प्रकट नही हो गई थी। गृहस्थाश्रम को इतना मान देते हुए भी, उसके भोगे बिना कोई भी आत्मार्थी वानप्रस्थ व सन्यासाश्रम म प्रवेश ही नही करे बस इसी को जैनधर्म और भगवान महावीर ने मान्य नही किया है। और जब से हिन्दू धर्म ने जीवात्मा का अंतिम ध्येय स्वर्ग नहीं अपितु जीवन मरण से सर्वथा मुक्ति स्वीकार कर लिया, तब से वहां भी तो ऐसे सन्यासी हुए और होते रहे हैं कि जिनने गृहस्थाश्रम में प्रवेश ही नही किया था। यद्यपि शुक व मुनि पौराणिक थे, परन्तु शंकराचार्य तो आठवीं सदी विक्रमी में होने वाले ब्रह्मचारी से ही सीधे सन्यासी हो गये थे। यह बात दूसरी है कि जैन परंपरा मे पिछले दो हजार वर्ष से ब्रह्मचर्यावस्था मे श्रमणत्व की सीधी दीक्षा लेने वाले प्रभाविक आचार्यों की ही प्रचुरता रही है, फिर भी उनसे कहीं अधिक गृहस्थाश्रम भोगकर श्रमणत्व की दीक्षा लेने वाले हुए और आजभी होते हैं। ऐसी दशा में प दलसुख भाई मालवणिया जैसे जैनशास्त्र मर्मज्ञ का यह कहना अवश्य ही खटकता है कि गृहस्थाश्रम की सामाजिक व्यवस्था श्रमण मार्ग मे नहीं है। जो कुछ व्यवस्था है वह सामाजिक प्राणी होते हुए भी गृहस्थ असामाजिक प्राणी कैसे बने यही मार्ग दिखाने वाली है। (आ विजयवल्लभसूरि स्मारक ग्रथ, गु लेख विभाग, 'मनुष्य एकलो नथी' पृ. १२९) इसके समर्थन मे वे कहते हैं कि मनुष्य सामाजिकप्राणी है ऐसी व्याख्या मात्र शास्त्रियों ने मनुष्य की की है। परन्तु इस व्याख्या का विरोध श्रमणधर्म की

णाश्रम व्यवस्था के साथ है। प्रारम्भ से ही मनुष्य को यह सिखाया जाता है कि तू अकेला आया है, अकेला ही तुझे जाने का है। तेरे लिये माता क्या और पिता क्या? ये सब तो स्वार्थ के सगे हैं। इसका परिणाम ही यह है कि श्रावक लोग इसी भावना का पोषण करते रहते हैं कि इस सब पाप से कब छुटकारा पावें। जिस घड़ी वे छोड़ सकने की स्थिति में आते हैं, उसी समय सब कुछ छोड़कर वे घर से निकल जाते हैं और साधु-सन्यासी बन जाते हैं। परिणाम यह होता है कि गृहस्थ-जीवन में उत्कर्ष करने की ओर अथवा इस लोक को सुधारने की ओर उसका ध्यान जाता ही नहीं है। परलोक के लिये ही सब ध्यान दिया जाता है। जिस समाज के आधार से, जिस समाज के बीचमें रह कर सन्यासमार्ग का पालन सुकर है, उसी समाज के प्रति उपेक्षा की जाती है। फलतः जीवन दृष्टि एकांगी बन जाती है। यह निष्कर्ष लेखक का लिया हुआ है क्योंकि जैन इतिहास से यह निष्कर्ष बिलकुल ही समर्थित प्रमाणित नहीं होता है। गृहस्थ-जीवन में उत्कर्ष साधने वाले श्रावकों से जैन इतिहास उतना ही ओत प्रोत है जितना कि हिंदू इतिहास। इससे प मालवणिया अनजान किसी भी प्रकार से नहीं हैं, ऐसा लेखक का मानना है।

आइए अब हम इस विषय में उस भगवद्गीता का भी अवलोकन सक्षेप में करें जिसे लोकमान्य तिलक महाराज ने अपने मान्य 'गीतारहस्य' में शंकराचार्यादि भाष्यकारों की सब रूढ़ियों को तोड़कर कर्म योग का प्रधान शास्त्र सिद्ध किया है। इसका दूसरा अध्याय 'सांख्ययोग' शीर्षक है और उसमें श्रीकृष्ण ने अर्जुन को यह कहा है कि-

> योगस्थः कुरु कर्माणि संगं
> त्यक्त्वा धनंजय।
> सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा
> समत्वं योग उच्यते ॥४८॥

अर्थात् हे धनंजय ! योग में स्थिर होकर तथा संग छोड़कर [illegible] और असिद्धि में सम होकर तू कर्म कर। इसी को समत्व कहा जाता है।

विचारने की यह बात है कि प्रवृत्तिधर्म के [illegible] श्रीकृष्ण ने अर्जुन को इस समत्व योग का जो उपदेश दिया वह जैन धर्म की [illegible] बारह भावनाओं के [illegible] से तनिक भी भिन्न नहीं है। [illegible] यह [illegible] भी गृहस्थाश्रम [illegible] स्थापित

गीता से ऐसा निष्कर्ष आज तक किसी ने नहीं निकाला है और न यह निकाला ही जा सकता है जैसा कि प० मालवणिया जैनधर्म की बारह भावना के एकांत विचार से निकाल रहे हैं। सारी गीता में एक ही बात का उपदेश अर्जुन को है कि तू यह विचार भुला दे कि जिन से मैं युद्ध कर रहा हूं वे मेरे पूज्य और आत्मज हैं क्योंकि—

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्रसमदर्शनः ॥६, २९॥

अर्थात् जिसका अन्तःकरण सबकी एकता के साम्यभाव से युक्त हो गया है, वह सर्वत्र समदर्शी अर्थात् सब में समता का अनुभव करने वाला समत्व योगी अपने को सब भूत प्राणियों में और सब भूत प्राणियों को अपने में देखता है। इसलिये तू निरासक्त होकर यह धर्मयुद्ध कर। इसीतरह जैनाचार्यों ने भी समत्व की प्राप्ति के उपायों में निर्ममत्व आवश्यक कहा है और यह निर्ममत्व अनित्यादि बारह भावनाओं के अवलम्बन बिना प्राप्त हो ही नहीं सकता है।

विस्तार भय से गीता से उद्धरण देकर जैन धर्म की बारह भावनाओं का समर्थन यहां न तो किया ही जा सकता है और न यह उसके लिये उपयुक्त स्थल ही है। तिलक महाराज के मत में ही नहीं अपितु गांधीजी आदि के मत से भी, गांधीजी ने तो इसे 'अनासक्ति योग' ही नाम दे दिया है। गीता का सार जिस श्लोक में आ जाता है वह है—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्म फलहेतुर्भूर्मा ते संगो ऽस्त्वकर्मणि ॥२, ४७॥

अर्थात् कर्म करने मात्र का तेरा अधिकार है, फल की प्रतिक्रिया पर तेरा अधिकार नहीं है। किसी कर्मफल की प्रेरणा से तू कर्म करने वाला मत हो और कर्म न करने की ओर भी तेरी प्रवृत्ति न हो।

परन्तु क्या गीता के इस उपदेशानुसार संसार में कोई भी फल की इच्छा रखे बिना या इच्छा रहित होकर काम करता पाया जाता है? इसीप्रकार चाहे बारह भावना का नित्य निरंतर पाठ कोई करता रहता हो, आज तो गीता का नित्य पाठ करने वाले लोग भी बहुत ही हैं, फिरभी गृहस्थी का आकर्षण और अपने पराये का विचार अन्य कारण उपस्थित होने पर ही किसी का छूटता है। सामन्यतया तो जो कहा जाता है कि—

नार मुई घर सम्पति नासी,
मूंड मुंडाय भये संन्यासी।

यही सत्य है वैसे योगभ्रष्ट प्राणी भी कभी कभी अवतरित होते रहते हैं जो पूर्व जन्म में जितना साध लिया हो उससे आगे वे तुरत ही प्रगति करने लगे हैं। जैनों के उत्तराध्ययनसूत्र अध्याय ३ गाथा १४-१६ में जो कहा गया है, ठीक वही बात गीता अध्याय ६ श्लोक ४१-४३ में कही गई है। इसीलिये यह कहना कि एकत्वादि भावनाओं की शिक्षा गृहस्थाश्रम की विघातक है, एकान्त भ्रम ही है।

फिर उत्तराध्ययन, अध्ययन ३ गाथा १ तो स्पष्ट ही कहती है कि जो चार बातें प्राप्त करना किसी जीव के लिये अति दुर्लभ है उनमें से पहली बात है 'मनुष्यत्व'। वह गाथा इस प्रकार है।

चत्तारि परमंगाणि दुल्लहाणीह जन्तुणो।
माणुसत्तं सुई सद्धा संजमंमि य वीरियं॥

इस माणुसत्त शब्द के अर्थ के विषय में जैनाचार्यों में अवश्य ही मतभेद रहा है, और कदाचित आज भी मतभेद है, परंतु विचारशीलों ने सदा ही मनुष्य जन्म के अर्थ में न लेकर माणुसत्तं को 'मनुष्यता' के अर्थ में लिया है क्योंकि मनुष्य तो करोड़ों ही हैं। पर मनुष्यता विरलतर ही पाई जाती है। मनुष्य में मनुष्यता का प्रस्फुटन और पोषण गृहस्थाश्रम में ही होता है और हो सकता है। इसीलिये हरिभद्रसूरिने 'धर्मबिन्दु' में स्पष्ट ही कह दिया है कि-

प्राय सद्धर्मबीजानि गृहिष्वेवविधेष्वलं
रोहन्ति विधिनोप्तानि यथाबीजानि सत्क्षितौ॥

अर्थात् सारे संसार में विधि सहित बोया गया बीज ही उगता है। इसी प्रकार उपरोक्त लक्षणों वाले गृहस्थ में विधि सहित बोए सद्धर्म के बीज ही बहुतायत में अंकुरित होते हैं। अतः उन्होंने इस ग्रंथ में सब से पहले गृहस्थ धर्म का विचार किया है और उसमें भी सामान्य गृहस्थ धर्म की परिभाषा आचार्य ने इसप्रकार दी है -

कुलक्रमागतमनिन्द्यं विभवाद्यपेक्षया
न्यायतोऽनुष्ठानमिति॥

अर्थात् कुल परंपरा से चला आता, अनिंद्य और अपने वैभव की अपेक्षा में न्याययुक्त जो अनुष्ठान है वही सामान्य गृहस्थधर्म कहा जा सकता है।

आचार्य हेमचन्द्र ने भी अपने सुप्रसिद्ध ग्रंथ "योगशास्त्र" में जो उन्होंने महाराजा कुमारपाल की प्रार्थना पर उन्हीं के लिये रचा था, सब में पहले इसी सामान्य गृहस्थ

धर्म-

धर्म का वर्णन किया है । वहां हरिभद्र यह कहते हैं कि—

एव विधिसमायुक्तं सेवमानो गृहाश्रमम् ।
चारित्रमोहनीयेन मुच्यते पापकर्मणा॥
(धर्मबिन्दु, प्र. ४ ॥

अर्थात् गुण सम्पन्न हुआ और गृहस्थाश्रम का सेवन करता हुआ मनुष्य चारित्र मोहनीयरूप पाप कर्म से मुक्त हो जाता है । याने उसके पश्चात ही वह साधु धर्म यथावत् पालने में समर्थ होता है वहाँ हेमाचार्य तो इससे भी आगे बढ़ गये हैं क्योंकि वे 'योगशास्त्र' में कहते हैं कि योग का माहात्म्य कैसा अद्भुत है । भरतक्षेत्र का स्वामी भरत चक्रवर्ती विशाल साम्राज्य का वहन करते हुए भी योग के द्वारा मोक्ष प्राप्त कर सका था। फिर पहली ही बार मनुष्य शरीर प्राप्त की हुई ऋषभदेवकी की माता मरुदेवा को पूर्व जन्म की कुछ भी धर्मसम्पत्ति नहीं होते हुए भी इस योग के प्रभाव से उसी एक जन्म में ही परम पद मोक्ष प्राप्त हो गया था । ब्राह्मण, स्त्री, गर्भ और गाय सभी की हत्या करने जैसे महापाप करने वाला तथा नरक का अतिथि लुटेरा दृढ़ प्रहारी योग के कारण ही पार हो गया था। अतः उनके मत से योग साधना गृहस्थधर्म में भी पूरी पूरी सम्भव है । इस काल में मोक्ष सम्भव नहीं, इस जैन परम्परा को मान्य रखते हुए भी वे स्पष्ट कहते हैं कि इस काल में भी(चाहे शुक्ल ध्यान सम्भव न भी हो पर) ध्यान से परिपूर्ण तल्लीनता साध्य होना सम्भव है और ऐसा ध्यानी तब स्वयं परमात्मा से किंचिन्मात्र भी पृथक नहीं है, ऐसा वह अनुभव करता है । वे तो स्वानुभव से यहां तक कहने का साहस करते हैं कि गुरू भी जिस तत्व को 'यह यह है' कह कर वर्णन नहीं कर सकता है, वह तत्व स्वतः ही, प्रगट हो जाता है । (१२, २१) "साम्प्रदायिक मान्यता को स्मरण रखते हुए वे कह देते हैं कि उससे चाहे मोक्ष हुआ कहा जाये या नहीं, फिर भी जो परमानन्द है उसका तो अनुभव होता ही है कि जिसके आगे संसार के सर्व सुख तुच्छ जैसे नहीं वत् लगते हैं। (१२,५१) 'जिसे हिंदू धर्म स्थिति प्रज्ञ कहता है शायद उसी की बात हेमाचार्य भी यहां कह रहे हैं—

अतः यह कहना एकान्त ही है कि जैनधर्म गृहस्थ या प्रवृत्ति धर्म का निषेध करता है और यह भी कि प्रवृत्तिरत मनुष्य की मुक्ति हो ही नहीं सकती है । यह खेद की ही बात है कि हमारे जैनाचार्यों ने प्रवृत्तिलक्षी अंग की अपेक्षा निवृत्ति लक्षी अंग पर

अधिक भार दिया और ये छ स्थविर मार्ग की भांति वैयक्तिक मोक्ष की चर्चा में ही विशेष रस लेते रहे और आज भी लेते हैं। जैनों में बौद्ध परम्परा की भांति केवल वैयक्तिक मोक्ष की चर्चा के प्रति ऐसा असंतोष कभी प्रगट नहीं किया गया कि उनमें से बौद्धों के महायानी पंथ की भांति कोई पंथ फूट निकलता जैसे कि स्थानकवासी और तेरापंथी सम्प्रदाय श्वेताम्बरों में और बीसपंथी, तेरपंथी, तारण पंथी सम्प्रदाय दिगम्बरों में फूट निकले। चाहे जैनाचार्य सर्वभावी सर्व-कल्याणकारी दृष्टि का विकास एवं स्थापन यहां तक नहीं कर सके हों कि जब तक एक भी प्राणी बद्ध हो तब तक वैयक्तिक मोक्ष शुष्क और रस विहीन है, फिर भी लोक संग्रह का उपदेश देने वाले हरि-भद्रसूरि, कलिकालसर्वज्ञ श्री० हेमचन्द्रसूरि जैसे तो होते ही रहे हैं जिनने उत्तम गृहस्थ धर्म का पालन करते हुए भी इस काल में जिसमें की मोक्ष विच्छेद चले जाने की ही जैन परम्परा है, जीवन्मुक्त या स्थितप्रज्ञ होना सम्भव है, यह स्पष्ट ही घोषित किया है। अन्त में हम पाठकों को स्मरण करा देना चाहते हैं कि संसार में समत्व की साधना से इहलोक और परलोक दोनों ही सधते हैं और इस समत्व का जहां गीता में श्रीकृष्ण ने अर्जुन को उपदेश दिया वहां भगवान महावीर और उनकी आचार्य परम्परा ने भी उतनी ही दृढ़ता से उपदेश दिया है और इसकी गृहस्थ को भी पद-पद पर आवश्यकता है। हेमचन्द्राचार्य का यह कथन सदा ही स्मरण रखना चाहिये कि

न साम्येन विना ध्यानं न ध्यानेन
विना च तत्।
निष्कम्पं जायते तस्माद् द्वयमन्योऽ
न्यकारणम्॥

अहिंसा का जीवन में महत्व

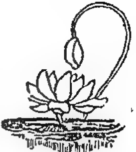

लेखक कन्हैयालाल सुराटिया

★

"प्राण व्यरोपण हिंसा' प्राणी की घात करना हिंसा है। इसके विपरीत कार्य करना अहिंसा है।

आज भारतीय संस्कृति को श्रमण संस्कृति की जो सबसे बड़ी देन है वह है अहिंसा। वैदिक संस्कृति में 'वैदिक हिंसा हिंसा न भवति' माना जाता था। ऐसे समय में भगवान महावीर ने अहिंसा का जो आधार बतलाया था वह इतना सहज सुबोध था कि जन-साधारण हिंसा प्रवृत्ति से विमुख हो गया। महावीर का अहिंसा वर्णन

(१) सव्वे पाणा पियाउया, सुहसाया, दुक्ख पडिकूला। अप्पियवहा पियजीविणो, जी विउकाया, स्वोसिं जीवियंपिय ॥

सभी प्राणी जीना चाहते हैं। सुख पसन्द करते हैं, दुःख से घबराते हैं। सब को मरण अप्रिय है, जीवन प्रिय है, जीने की कामना करते हैं, सबको जीना प्यारा लगता है।

(२) सव्वे पाणा, सव्वे भूया, सव्वे जीवा, सव्वे सत्ता न हतव्वा, न अज्जावेयव्वा, न परिघेत्तव्वा, न परिया वे यव्वा, न उद्दवेयव्वा। एस धम्मे सुध्दे, नितिए, सासए, समेच्च लोग खेयन्नेहिं पवेइए। किसी भी प्राणी, भूत, जीव, सत्व को न मारना चाहिये, न सताना चाहिये, न कैद करना चाहिये, न कष्ट पहुँचाना चाहिये, न डराना चाहिये। यही धर्म शुध्द है, नित्य है, शाश्वत है, अनुभवी व्यक्तियों द्वारा संसार का स्वरूप समझकर बताया गया है।

(३) से पन्नाणमेते सुध्दे, आर भोवर एसम्मेमेयं ति पासह। जिस मनुष्य ने हिंसा करना छोड़ दिया है, वही समझदार है, वही ज्ञानी है, इसकी ओर ध्यान देना चाहिये।

(४) तुमंसि नाम सच्चेव जं हंत व्वति मन्नसि, तुमंसि, नाम सच्चेव। जं अज्जावेयव्व एवति मन्नसि, तुमंसि नाम सच्चेव जं परियावेयंति मन्नसि, जं परिघेत्तव्वं

तिमन्नसि, ज उद्दवेयव्वंति मन्नसि श्रजुचेव पडिबुद्धजीवी तम्हा न हंता, न विघायए, अणुसंवेयण ममागेण जं हंतव्वं नाभि पत्थए।

हे मानव! जरा सोच समझ! जिसे तू मारने का, सताने का, परिताप देने का, अपने वश में रखने का, प्राण रहित करने का विचार कर रहा है, वह अन्य कोई नहीं, तू ही है। ऐसा जानकर प्रबुद्ध आत्मा को किसी भी प्राणी को पीड़ा पहुँचाने का उसकी घात करने का विचार नहीं करना चाहिये।

(२) एस खलु गंथे, एस मोहे, एस खलु मारे, एस खलु णिरए। यह जीव हिंसा ही मुख्य बड़ी गांठ है, यही मोह है यही मृत्यु है और यही नरक है।

(आचारांग सूत्र से)

पीड़ा वहो अप्प वहो,
जीव दया अप्प दया होई।
जीव हिंसा अपनी हिंसा है,
जीव दया अपनी ही दया है।

मंगलमय भगवान महावीर के इन उपदेशों का प्रभाव वैदिक संस्कृति के उपर पड़ा। इस कारण से गणधर गौतम भगवान महावीर के शिष्य बने। उनके साथी अन्य [illegible] विद्वान तथा उनके सभी शिष्य कुल ४४०० शिष्यों ने भगवान को अपना गुरु बनाया। उसके बाद साधारण की आस्था वेदविहित कर्म पर नहीं रही। उपनिषद् में भी हिंसा का विरोध किया गया है अज्ञानीजीवों को ज्ञान देकर उनका पथ प्रदर्शित करे। यही अहिंसा अर्थात प्रेम का संदेश है। निस्वार्थ भाव से सबको सुखी बनाने का प्रयत्न करे। अपनी ओर से किसी को किसी प्रकार का कष्ट न हो यही मानव धर्म है। अपने को कष्ट देने वाले पर भी रोष द्वेष न लावे यह उससे भी आवश्यक धर्म है।

हिंसा दुर्गति का द्वार और पाप का समुद्र है। समस्त मतों के समस्त शास्त्रों में यही सुना जाता है कि अहिंसा लक्षण वो धर्म है और इसका प्रतिपक्षी हिंसा करना पाप है यह अहिंसा ही मुक्ति देती है, स्वर्ग की लक्ष्मी को देती है और अहिंसा ही आत्मा का हित करती है। समस्त कष्ट रूप आत्माओं को नष्ट करती है।

समस्त दानों में अभयदान ही प्रधान है, क्योंकि एक प्राणी के घात से उत्पन्न हुआ पाप, सात दीप और कुलाचलों सहित पृथ्वी दान करने से भी दूर नहीं होता। मनुष्य को जीवन इतना प्यारा है कि मरने के लिये जो कोई समस्त पृथ्वी का राज्य दे तो भी मरना

नहीं चाहता। इस कारण एक जीव को बचाने में जो पुण्य होता है वह समस्त पृथ्वी के दान से भी अधिक होता है। जो पापी त्रिशूल, चक्र, तलवार और धनुष आदि शस्त्रों से जीवों को घात करने में उद्यत हैं, ऐसी चण्डी, काली, भैरवादिकों को भी निर्दय पुरुष देवता मानकर उनकी स्थापना करते हैं। जो जीवों को घात करने में प्रवृति करे वह काहे का देव ? परन्तु जो निर्दयीजन हैं उनको ऐसे निर्दयी देव ही इष्ट लगते हैं। जिनके सब अंग भय से कम्पित है, जिनका कोई रक्षक नहीं, जो अनाथ है, जिनको जीवन ही एक मात्र प्रिय वस्तु है, ऐसे प्राणियों को जो मारते उन्होंने क्या अपने को अजरामर जान लिया अपने को भी कोई मारेगा क्या उन्होंने यह जाना ? इस लोक में जैसे परमाणु से तो कोई छोटा या अल्प नहीं है आकाश से कोई बड़ा नहीं है। इसी प्रकार अहिंसा रूप धर्म से बड़ा कोई धर्म नहीं है अभी यह जगत प्रसिद्ध लोकोक्ति है यथा "अहिंसा परमोधर्म, हिंसा सर्वत्र गर्हिता" इस संसार रूपी दीर्घ भय से भयभीत होने वाले जीवों को यह अहिंसा ही एक परम औषधी है। क्योंकि यह सबका भय दूर करती है तथा स्वर्ग जाने के लिये अहिंसा ही मार्ग है। यह अहिंसा इतनी ही नहीं है, किन्तु जीवों को माता के समान रक्षा करने वाली और स्त्री के समान चित्त को आनंद देने वाली है तथा सदुपदेश देने के लिये सरस्वती के समान है। जिस महा पुरुष ने जीवों को प्रीति का आश्रय देकर अभयदान दिया। उस महात्मा ने कौन सा तप नहीं किया ? अर्थात् उस महा पुरुष ने समस्त तप, दान किया क्योंकि अभय दान में सब तप दान आ जाते हैं।

आज के अशांति और हिंसा से पूर्ण संसार में भगवान महावीर के सन्देशों का बड़ा महत्व है। आज अपने विनाश की जिन तैयारियों में संसार लगा हुआ है, उनको रोकने के लिए भगवान महावीर स्वामी का "अहिंसा परमो धर्म" सन्देश एक रामबाण सिद्ध हो सकता है। यह हमें अपने झगड़े आपस में मिलकर निपटा लेने की प्रेरणा देता है। यह हमें परस्पर स्नेह करना सिखलाता है।

अहिंसा की सहायता से हमारा मार्ग प्रकाशित रहेगा और नई दिशा की ओर अग्रसर होते हुए हम उस आध्यात्मिक पहलू को नहीं भुला सकेंगे, जो हमें सच्ची मनुष्यता, आपसी प्रेम और समानता की शिक्षा देता है। स्वयं

(शेष पृष्ठ ७६ पर)

भारतीय संस्कृति को भगवान् महावीर की देन

लेखक कन्हैयालाल मुरडिया

★

संस्कृति का सीधा और सरल अर्थ है– सुधारना, बनाना संस्कृति की पूर्णता जीवन की पूर्णता है। दूसरे शब्दों में सुन्दर सुरूपेण जीवन जीने का ढंग ही संस्कृति है।

भारतीय संस्कृति एक सुन्दर रत्न मंजूषा है जो जीवन यापन की सुन्दर रीतियों से परिपूर्ण है, इस परम पुनीत आर्य संस्कृति को मंगलमय महावीर प्रभु ने अपने सर्वप्राणी हितकारी सिद्धांतों से समर्थित कर विश्व के लिये अनुकरणीय बना दिया है। यह है भारतीय संस्कृति और महावीर का संक्षिप्त सम्बन्ध।

महावीर के समय की धार्मिक स्थिति

ऐसे परम पावन संस्कृति रक्षक भगवान महावीर ने आज से ढाई हजार वर्ष पूर्व इस पुनीत धरा धाम पर जन्म लिया था। वे जन्म से ही स्व पर कल्याण के मार्ग पर आरूढ होने के उत्सुक थे। युवावस्था की सुनहली किन्तु आशास्पद सीढियों पर ही महावीर स्व कल्याण के साथ विश्व कल्याण की पुनीत भावना को लेकर संसार को छोडकर निकल पडे।

उस समय की स्थिति बडी दारुण थी। नरमेघ, अश्वमेघ, गोमेध, यज्ञों का प्रबलता के साथ प्रचार था।

"वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति" का नारा, ईश्वर वाक्य माना जाने लगा था।

अहिंसा की पुनीत प्रतिष्ठा धर्म के नाम पर हिंसा का ताण्डव नृत्य हो रहा था। ऐसे भीषण हिंसा काल में महावीर ने अपने उपदेश मात्र से प्राणीमात्र को सुख का सच्चा मार्ग बता आश्वस्त किया। अहिंसा की पुनीत मंदाकिनी वीर हिमाचल से अनेकान्त के शीतल जल की कल कल छल-छल भान के साथ प्रकट हो गई।

तो उस हिंसावाद के प्रबल युग में वर्धमान महावीर ने यह दिव्य घोषणा का उद्घोष किया —

सव्वे जीवा वि इच्छंति जीविउं न मरिज्जिउं।
तम्हा पाणिवहं घोरं निग्गंथा वज्जयंति णं॥

अहिंसा को जीवन मे उतारने का भी प्रभुमहावीर ने सुन्दर और सुगम मार्ग बतलाया है। उस मार्ग को हम मुख्य तया दो रूपों मे देखते हैं।

श्रावक मार्ग साधु मार्ग

संसार म रहते हुए यथा शक्य त्याग आदि धारण कर जीवन पावन करने का मार्ग श्रावक धर्म कहलाता है और पूर्ण निवृत्ति मार्ग साधु मार्ग है।

अहिंसा की महत्ता भारतीय संस्कृति मे अगर किसी ने स्थापित की है तो प्रभु महावीर ने। उनके पहले की स्थिति का इतिहास साक्षी है कि धर्म भी हिंसा का धाम बन चुका था। धर्म को मौलिक रूप मे स्थापित करने का महान कार्य भी महावीर ने किया है।

आज जो अहिंसा का महत्व भारतीय संस्कृति विश्वको पंचशील आदि के रूपमें दे रही है वह सब मुख्य रूप से महावीर की ही देन है।

अनेकान्तवाद

अहिंसा के बाद विचारों मे अनेकान्तवाद की महान देन मंगल प्रभु महावीर ने संसार को बतलाया कि प्रत्येक वस्तु अनंत धर्मात्मक है। जब हम किसी वस्तु के विषय में कुछ भी कहते हैं तो एक गुण को मुख्य और दूसरे गुणों को गौण कर देते हैं। इस सम्बन्ध मे अन्धों द्वारा पहचाने गये हाथी के रूप का उदाहरण दिया जा सकता है। हमारा यह सत्य केवल आपेक्षिक होता है। अन्य अपेक्षा या दृष्टिकोणों से वही वस्तु अन्य प्रकार की भी होती है। यद्यपि ये मत मतांतर परस्पर मे विरोधी से प्रतीत होते हैं परंतु सब अपने अपने दृष्टि कोणों मे ठीक है। भगवान ने कहा कि जितने भी वचन मार्ग विभिन्न पंथ या मत मतांतर संसार में दिखाई देते हैं उतने ही नय हैं, वस्तु स्वरूप को देखने के मार्ग हैं। वे ही परमत कहलाते हैं और उन सब विभिन्न मत मतान्तरों का सुसमन्वय ही सम्यक्त्व है।

अपरिग्रहवाद की प्रतिष्ठा

परिग्रह वृत्ति पाप का मूल है इसीसे अशांति उत्पन्न होती है। अतः कम से कम आवश्यकता रखना ही श्रेयस्कर है। धन वैभव को संग्रह कर अपने को बड़ा मानने वालों के लिए कहा है-

जह इ धणेहि अग्गी लवण
समुद्दो ठादी सहस्सेहि।
तह जीवस्सण तित्ती अत्थि
तिलोगे विलद्धएणम्मि॥

वस्तुतः आत्मा के वास्तविक सुख को प्राप्त करने के लिएसमस्त परिग्रह का परित्याग करना आवश्यक है।

महान साहित्यिक देन

भगवान ने अपना संदेश संसार को उस समय की लोक भाषा अर्ध मागधी में सुनाया जिसको साधारण जनता सुगमता व सरलता से समझकर अपने जीवन में उतार सकी।

वर्ण व्यवस्था का उदार दृष्टिकोण

भगवान के समय में मानव समाज के भीतर जात-पात गत भारी वैषम्य था। भगवान ने जाति को कुल का आधार न बना कर कर्म का आधार बताया यथा—

कम्मुणा बम्भणो होई कम्मुणा होई।
कम्मुणा वइसो होई सुद्दो हवाइ
कम्मुणा॥

मंगलमय भगवान के द्वारा उपर्युक्त यह गाथा मानव महात्मा और कर्म महत्ता का स्पष्ट तथा प्रतिपादन कर रही है। आज के इस उन्नति शील युग की भूमिका में।

आत्मवाद

भगवान् ने सर्व प्राणियों को समान शक्ति का धारक बतलाया और कहा कि वे अपने सुख दुःख के स्वयं ही निर्माता हैं। आत्म विकास की सर्वोच्च अवस्था का नाम ही ईश्वर है जो अपने पुराने कर्मों को राग, द्वेष, मोह, काम-क्रोध, लोभ आदि विकारी भावों को दूरकर देता है, नवीन विकारों को अपने भीतर प्रवेश नहीं करने देता है और सदा परम निरंजन आत्मा का चिन्तवन करता है, वही स्वयं ही आत्मा से परमात्मा बन जाता है। भगवान के इस उदार सिद्धान्त ने अलौकिक देन का कार्य किया है।

दक्षिणी अफ्रिका में हुए अभी के जातिभेद के अन्याय को और वैषम्य की भावना को दूर करने की यह अमोघ औषधि है।

वर्धमान महावीर के आचार में अहिंसा, विचार में अनेकान्तवाद, साहित्य में उदारता, जीवन में अपरिग्रह, कर्मवाद आदि के अतिरिक्त सिद्धांत ही भारतीय संस्कृति की मौलिक सम्पत्ति है। विश्व कल्याण की भूमिका है। इन्हीं सिद्धान्तों पर चलकर मानव मात्र परम सुख और शांति को प्राप्त कर सकता है। भगवान का शासन सर्वोदय का नाम है जो सर्व हितकर है।

सर्वां पदा मन्त कर निरंतं
सर्वोदय तीर्थ मिद॥

महावीर जयन्ती की प्रेरणा

लेखक श्री साधकजी

हम महावीर जयन्ती मना रहे हैं। महावीर ने जीवन भर अहिंसा, अपरिग्रह और अनासक्ति की साधना की। उनकी साधना हमें अपने कर्तव्य की स्मृति कराती है। महावीर जयंती पर हम उपासना की आचार की प्रेरणा बनाए, इसी में हमारी सफलता है।

महावीर के समय में समाज की हालत बहुत ही विचित्र थी। आपसी संबंध भी काफी संघर्षपूर्ण थे। पिता का पुत्र के साथ और पुत्र का पिता के साथ भी संघर्ष चलता था। इसके दो नमूने ज्ञाता एवं निरयावलिका सूत्र में उपलब्ध होते हैं। तेतलीपुर के महाराज कनकरथ इसलिये अपने पुत्रों के अंग भंग कर देते थे ताकि वे बड़े होकर राज्य सिंहासन को न हड़प लें[1]। इसी प्रकार सम्राट बिम्बसार के विरुद्ध अजातशत्रु के नेतृत्व में वहीं के पुत्रों ने षडयन्त्र रचा और उन्हें काल कोठरी में डाल दिया[2]। अजातशत्रु और चेटक का युद्ध तो सर्व विदित ही है। उस युद्ध में एक करोड़ अस्सी लाख मनुष्यों का संहार हुआ[3]। लगभग पूरे उत्तर पूर्वी भारत को उस युद्ध का परिणाम भुगतना पड़ा। ऐसी संकटापन्न और प्रतिकूल परिस्थितियों में महावीर ने स्नेह, सौजन्य, सहयोग एवं समता के विचार को विकसित किया और फिर इस सिद्धांत को उन्हीं राजाओं के गले उतारा। उनके उपदेशों से प्रभावित होकर मगध, विदेह, काशी, कौशल, राढ, वत्स आदि देशों के राजा समझे। वीरांगक, वीरयश, संजय, उदयन आदि नरेशों तथा अभय कुमार, नंदीषेण मेघकुमार आदि राजकुमारों ने वैराग्य ले लिया।

महावीर को सबसे अधिक संघर्ष दास प्रथा के खिलाफ करना पड़ा। दास प्रथा के अभिशाप ने

१ देखो ज्ञाता सूत्र का चौदहवां अध्ययन।

२ देखो निरयावलिका सूत्र का पहला अध्ययन।

३ देखो निरयावलिका सूत्र का पहला अध्ययन।

उस युग में पूरे देश को अभिशप्त कर रखा था । शादी विवाह में सैकड़ों हजारों दास दासी दहेज में दिये जाते थे। इस प्रथा को खत्म करने के लिये महावीर का समाज के रूढ़िवादी तत्वों से मुकाबला हुआ। दास दासियों के भी कई तरह के स्तर थे१ । स्वय महावीर के अनुयायियो के घरों मे भी दास थे। दास प्रथा से परावलम्बन एव असयम की पुष्टि हुई। महावीर ने आत्म-कर्तृत्व के सिद्धांत से स्वावलम्बन के भाव जगाए। ब्रह्मचर्य की साधना से असयम का निराकरण किया। उस समय के बड़े बड़े धर्मानुयायी कामासक्त होकर कर्तव्य पथ को भुला बैठे थे। कौशाम्बी के राजा शतानीक की रानी मृगावती का चित्र देखकर उज्जयनी नरेश चंडप्रद्योत मुग्ध हो गये। वे उसे पाने दौड़े। शतानीक मारे गये। मृगावती घबरा गई। उसी समय महावीर ने पहुँचकर उसका उद्धार किया।

अन्ततोगत्वा बुराई का मापदंड आचार शास्त्र बना। आचार शास्त्र से आहार शुद्धि की बात सूझी। मासाहार निषेध आहार शुद्धि का परिणाम है। महावीर के समय मे मांसाहार से कोई अरुचि नहीं थी। लोग बिना रोक टोक के मांस खाते थे। महावीर ने जिस तीव्रता और सूझबूझ के साथ मास निषेध का वातावरण तैयार किया, वह आहार शुद्धि के इतिहास की सर्वाधिक महत्वपूर्ण घटना है।

धन्ना सेठ बड़ा श्रावक था। एक बार चिलात्त चोर के साथ सघर्ष करते समय गहन अरण्य में फस जाने पर उसने पुत्रों के साथ बैठकर अपनी मृत पुत्री का मास खाया।२

महारानी चेलणा जैसी धर्म-परायण श्राविका के मन में अपने पति सम्राट बिम्बसार के कलेजे का मांस खाने की तीव्र भावना पैदा हुई। इसपर महामंत्री अभयकुमार ने कुशलतापूर्वक सम्राट के कलेजे के स्थान पर दूसरा मास खिलाकर उसे सतुष्ट किया।३

राजगृह के प्रमुख श्रावक महाशतक गाथापति की पत्नी रेवती ने गायों के बछड़ों को मरवाकर खाया और फिर पौषधशाला में बैठे हुए धर्म स्वाध्याय मे रत अपने पति के पास जाकर बोली कि तुम कैसे भोले हो जो मेरे सहवास का सुख

---

१ देखो दशाश्रुत स्कध

२ देखो ज्ञाता सूत्र का अठ्ठारवा अध्ययन।

३ देखो निरयावलिका सूत्र का प्रथम अध्ययन।

छोड़कर स्वर्ग और मोक्ष के चक्कर मे पड़े हो ।१

इन घटनाओं से यह स्पष्ट हो जाता है कि महावीर को अपने प्रमुख श्रावकों को आहार शुध्दि के लिये महान अनुष्ठान करना पड़ा था। क्योंकि धन्नासेठ आदि आगे चलकर यथा समय दीक्षित हुए। महाशतक गाथापति ने जब अपनी पत्नी की भर्त्सना की तो महावीर ने गौतम को महाशतक के पास भेजा और उसे कहलवाया कि अप्रिय वचन कहने से अहिंसा के सिध्दांत की अवगणना होती है एवं साथ ही मन मे मलिनता होती है। इस प्रकार महावीर सौम्य सौम्यतर तरीकों से अपने विचारों का विस्तार करते रहे। वे ऐसा वातावरण तैयार करने मे सफल हो गये, जिससे सभी ने समवेत स्वर से आचार शुध्दि के लिये आहार शुध्दि की अनिवार्यता स्वीकार की।

'मुण्डे मुण्डे मतिर्भिन्ना। हर व्यक्ति मे अपनी विशेषता होती है वह अपनी खासियत में किसी का दखल नहीं चाहता। महावीर ने कभी दूसरों को दखल नही दिया, उन्होंने स्वतन्त्र चिंतन मे दख-लदाजी करने वाले सारे शास्त्रों को मानने से भी इंकार कर दिया। वे मनुष्य की मौलिकता मे विश्वास करते थे। इसीलिये साधना के क्षेत्र में भी उन्होंने '१५ भेदे सिद्ध होने की घोषणा की। स्त्री पुरुष, गृहस्थ-साधु, स्वतीर्थी अन्यतीर्थी आदि सभी कोई, कहीं भी किसी भी तरह, किसी भी समय, किसी भी वेष मे सिध्दि का उपक्रम कर सकते हैं।२

इस सिध्दांत ने महावीर के समदर्शित्व एवं प्राणीमात्र के प्रति रहे हुए सदाशय की सार्थकता को प्रमाणित कर दिया। इससे पंच वर्णीवस्त्रधारी आचार्य केशी, श्वेत वस्त्रधारी गौतम, वस्त्र विहीनआजीविक मुनि और दंडकमंडलधारी अंबड सन्यासी जैसे भांति-भांति के साधुओं ने उन्हें तीर्थंकर माना। महावीर ने भी उन्हें अपने तीर्थ का प्रमुख स्तम्भ स्वीकार किया। उनका तीर्थ व्यापक दृष्टि कोण में सोचने-समझने वाले साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविकाओं का संस्कृत समाज था। समन्वय का आचार विचार इस समाज का अधिष्ठान था।

ज्ञान आदर्श है, दया यथार्थ।

---

२ देखो उपासक दशांग सूत्र का अष्टम अध्ययन।

१ देखो जीवाभिगम सूत्र की प्रथम प्रतिपत्ति।

आदर्श की ओर बढ़ना है। यथार्थ को लिये चलना है। ज्ञान में तेज है। दया में शीतलता। ज्ञान ■ दया के संयोग से मर्यादित आत्म भाव चमत्कृत विश्व में एकाकार हो जाता है। विवेक इस एकाकार वृत्ति को पोषण देता है। खानेपीने उठने-बैठने, चलने, बोलने में विवेक रखने से बंध के कारण भूतकर्म भी निर्जरा के कारण बन जाते हैं रास्ते में देखकर चलने के बावजूद किसी को क्लेश हो जाये तो साधु निर्दोष है। ज्ञान सहित वृत्ति के यथार्थ होने से ही सम्यक् चारित्र का सामञ्जस्य है।

साधना का सम्पूर्ण सत्य भाव नाओं से निर्मित होता है। महावीर राजगृह पहुँचे। सम्राट दर्शन करने आये। रास्ते में उन्हें महान् तपोनिधि राजर्षि प्रसन्नचन्द्र दिखाई पड़े। वे ध्यान मग्न थे। सम्राट उन्हें वंदन कर आगे बढ़ गये। रास्ते भर उनकी विशेषताओं की चर्चा रही। महावीर के पास भी यही बात हुई। महावीर ने सम्राट की वार्ता का जवाब देते हुए कहा इस समय मेरे प्रिय शिष्य राजर्षि प्रसन्नचन्द्र साधु भाव से विचलित हो गये हैं। वे आर्तध्यान में समाविष्ट हैं। मगर अन्तर जगत में ■ व्याकुल हैं। प्रसन्नचन्द्र के समाधिस्थ होने पर महावीर ने फिर स्थिति का सही मूल्यांकन कर दिया।

भूलें करना आदमी के लिये सहज है। साधुओं से भी भूलें हुई हैं, होती हैं। महावीर ने भूलें करने वालों को कभी नहीं कोसा। उन्होंने सिर्फ इतना ही प्रतिबन्ध रखा कि भूलों की पुनरावृत्ति न हो भूलों को समझने की दृष्टि से 'आवश्यक' का आविष्कार हुआ। 'आवश्यक' की आराधना में 'खामेमि सव्वे जीवा, सव्वे जीवा खमंतु मे, मित्ति मे सव्व भूएसु, वेरंमज्झ ■ केणइ' मूल मंत्र बना। इस मंत्र में नियमित और जागरूक बनने का संकल्प तथा नित्य निरंतर प्रगति करने की प्रेरणा है। अयमंत कुमार बचपन में साधु बन गया। काली काली घटाओं, रिमझिम वर्षा चमचमाती बिजली स्निग्ध वातावरण में अयमंत का बाल्यभाव जाग उठा। उसने पात्र उठाया और बहते पानी को रोककर अपनी नाव तैरानी शुरू करदी। वयोवृद्ध साधु इस बचपन को बर्दाश्त न कर सके। वे शिकायत लेकर महावीर के पास पहुंचे। महावीर ने बाल सुलभ चपलता को निर्दोष करार दिया१।

भूल संशोधन का उपाय कषाय

१ देखो भगवती सूत्र शतक ५ उद्देशक ४।

विजय है। महावीर ने शांति से क्रोध को, मृदुता से मानको, सरलता से माया को और संतोष से लोभ को पराजित किया। कषाय विजय ही यथार्थ में दुःख मोचन का उपाय है। दुःख मोचन से श्रेय और प्रेय दोनों सधते हैं। महावीर ने दोनों साधे। वे वीर थे, वीतरागी भी थे। अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्त चरित्र और अनन्त बल की साधना ने उनके साध्य को साकार बनाया। वर्तमान भारतीय जीवन पद्धति उन्हीं जैसे महापुरुषों की समन्वय दृष्टि का ऐतिहासिक परिणाम है। इसीलिये भाव, भाषा, कार्य और गतिमान विश्वास की दृष्टि से महावीर का शाश्वत मूल्य है। कालक्रम के परिवर्तन से इसमें कोई अन्तर नहीं आया। महावीरको लोकोत्तर पुरुषों के स्तर तक पहुँचा देने से अवश्य ही उनके अवशिष्ट कार्यों की ओर दुर्लक्ष हो गया है। इस तथ्य की गम्भीरता को समझकर हम उनका सही मूल्यांकन करें और विश्व के नवनिर्माण में लगें, यही इतिहास की आवश्यकता है। महावीर भारत में पैदा हुए, भारत में बढ़े, भारतीय प्रदेशों में घूमे। वे असंख्य नर नारियों की निष्ठा के केन्द्र बने। उन्होंने प्राणीमात्र को अभय दिया। इसीलिये आज आधुनिक भारत के नव निर्माण के समय महावीर के अनुयायियों से महावीर जयन्ती का स्पष्ट आदेश है।

"योग दो युग का नया इतिहास बनने जा रहा है।"

(पृष्ठ ६८ का शेष)

अपने व्यक्तिगत जीवनों में भी हम इन संदेशों से एक ऐसी मधुरता उत्पन्न कर सकते हैं जो हमारे जीवन, पारिवारिक वातावरण और समाज को आनन्द से परिपूर्ण कर सकती है। आज के परिवर्तित जीवन में इस आनन्द का अभाव अत्यधिक खटकने वाली वस्तु है। अगर हम शांति चाहते हैं और विश्व में शांति की आकांक्षा है तो अहिंसा का पालन करो। अहिंसा प्रेमी का कर्तव्य है कि वह अहिंसा की बारीकी में उतरकर विशुद्ध अहिंसा को जीवन में स्थान दे।

★ ★ ★

चैत्र शुक्ला त्रयोदशी हमारा पावन पर्व है। करीब अढाई हजार वर्ष पहले इस दिन अहिंसा के अवतार विश्ववन्द्य के प्रचारक भगवान महावीर स्वामी का जन्म हुआ था। वे संसार के महान धर्मोपदेष्टा थे। उन्होंने किसी नये धर्म को जन्म नहीं दिया, अपितु ऐतिहासिक तीर्थंकर भगवान पार्श्वनाथ की परम्परा से आये हुए धर्म को ही जन मानस में उतारने का प्रयत्न किया।

भगवान महावीर की शिक्षा

वे तीर्थंकर थे। यह तीर्थंकरत्व उन्हें बारह वर्ष की घोर तपस्या आत्म साधना के बाद प्राप्त हुआ था। जब तक कोई अपने आप को पूर्णता न साध ले अपने अभ्यन्तर शत्रु राग, द्वेष और मोह पर विजय न पा ले तब तक तीर्थंकर नहीं हो सकता। दूसरों को तीर्थंकर मुक्ति के उपाय का उपदेश वही दे सकता है। वही उपदेश देने का यथार्थ अधिकारी है जो स्वयं उस बंधन से मुक्त हो चुका हो। तीर्थंकर की यह विशेषता जब भगवान महावीर ने सर्वांशतः प्राप्त कर ली, तभी उनकी दिव्यध्वनि का भावना प्रवाह जन मानस के अभ्यंतर कल्मष को धोने में समर्थ हुआ।

उनके सामने आत्म शुद्धि का आदर्श था। यही कारण है कि उन्हें दुनिया के भौतिक पदार्थ अपनी ओर आकृष्ट नहीं कर सके। कुमार वर्धमान के चारों ओर भौतिक पदार्थों का वैभव बिखरा पड़ा था, पर उन्होंने उस वैभव की विनश्वरता, निःसारता और निरर्थकता को समझकर उसे इस प्रकार छोड़ दिया था जैसे कोई जीर्ण तृण को छोड़ देता है। उनके पास जीवन की ऐसी असाधारण सुविधायें थीं जिनका नसीब होना सचमुच दुर्लभ है, पर ये सारी सुविधायें उन्हें न रोक सकीं और अपने स्नेही बन्धु बांधवों एवं प्रजाजनों के अनुरोध आग्रह और प्रार्थनाओं के बावजूद भी उन्होंने तपस्वी जीवन की कठोरताओं को सहजभाव से स्वीकार किया।

लेखक
श्री चैनसुखदास न्यायतीर्थ

तीर्थंकरत्व की प्राप्ति के बाद भगवान महावीर लगातार ३० वर्ष तक निरपेक्ष भाव से जगत को आत्मशुद्धि का उपदेश देते रहे। यही उनके धर्मतत्व की व्याख्या थी। उनकी दिव्यवाणी का यह उद्घोष था कि धर्म सहज क्रिया नहीं है। यह तो उसका बाह्य रूप है और बाह्य रूप भी उसे तब कहा जा सकता है जब आत्मा के

भीतर वास्तविक धर्म की प्रतिष्ठा हुई हो। धर्म एक त्रिकाला बाधित सत्य है। वह किसी सकुचित दायरे में आबध्द नही है। जाति, वर्ग, लिंग, योनि और क्षेत्र आदि उसकी मर्यादायें नही हो सकती। सम्यक् श्रध्दा, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र रूप रत्नमय ही उसका शब्द गम्य लक्षण है।

किन्तु भगवान की इस दिव्य देशना का आलोक केवल उन्हें ही प्राप्त होता था जिनमें विवेक की ज्योति जागृत हो गयी हो। धर्म को ठीक कहा जाना और उसके वास्तविक रूप को पा लेना ये दोनों चीजें अत्यन्त दुर्लभ हैं धर्म की पात्रता केवल उसे ही प्राप्त हो सकती है जिसकी दृष्टि उदार और विशाल हो मानव मात्र को सहिष्णु उदार और विशाल बनाने के लिये भगवान अपने प्रत्येक प्रवचन मे अपने सापेक्षावाद का उपयोग करते थे। कहते थे जबतक दृष्टि समयक् नहीं होती मनुष्य की प्रत्येक क्रिया मिथ्या है। सम्यक्त्व के द्वारा अपनी दृष्टि का संस्कार करने के लिये यह जरूरी है कि मनुष्य अपने जीवन में आग्रह, हिंसा और जातिवादआदि बुराइयों का अवलेप न आने दे। वह दूषित परम्पराओं से चिपटे रहने की प्रवृति को भी छोड दे। धर्म को कभी रूढियों से जीवन प्राप्त करने की स्फूर्ति नहीं मिलती। जो देवमूढ, लोकमूढ और गुरूमूढ होते हैं सचाई उनसे हमेशा दूर रहती है। ऐसे असंस्कारी जब तक विवेक बुध्दि से मनको संस्कृत नही कर लेते धर्म की प्राप्ति नहीं हो सकती। जो धर्म केवल रूढियों से जीता है वह धर्म नहीं निरा पाखंड है। धर्म जीवन की वह सचाई है जिसमें माया, मिथ्यात्व और निदान भोगासक्ति नही होते।

भगवान महावीर के समय मे हिंसा, साम्प्रदायिकता और जातिकुल आदि का अभिमान मनुष्य में इतना अधिक घर किए हुए था इनको लेकर बात २ में पारस्परिक संघर्ष और कलह हो जाते थे और उनके फल स्वरूप जातियों समाजों और कुटुम्बियों तक में अशांति हो जाती थी। भगवान के सार्वजनिक प्रवचन इन संघर्षों एव कलहों को दूर करने मे सर्वरोगहरण औषध की तरह काम करते थे। इन सारे रोगों की उनके पास एक ही चिकित्सा थी- अभ्यंतर और बाह्य हिंसा का सर्वथा परित्याग।

धर्म के चाहे कितने ही रूप क्यों न हों अहिंसा उन सब मे ओत प्रोत रहेगी। धर्म-जीवन की एक ऐसी स्फूर्ति है जिसका स्थान ससार की कोई वस्तु नहीं ले सकती और यह प्रेरणा धर्म को अहिंसा

से ही प्राप्त हो सकती है। जिसमे यह स्फूर्ति अथवा प्रेरणा नहीं होती वह पशु है उसमें हिंसा की परम्पराएं प्रज्वलित होती रहती हैं। जब तक मन में धर्म रहता है—अहिंसा रहती है मनुष्य मारने वाले को भी नहीं मारता पर जब वह उसके मन से निकल जाता है औरों की कौन कहे पिता पुत्र की और पुत्र पिता की हत्या करने के लिये भी तत्पर हो जाता है। वह कुकृत्य करते हुए उसे लज्जा का अनुभव नहीं होता। सच पूछा जाय तो धर्म ही जगत की रक्षा करने वाला है। एक जैनाचार्य ने धर्म के विषय में कितना अच्छा लिखा है—

धर्मो वसेन्मनसि यावदलं सतावत्।
हन्ता न हन्तुरपि पश्य गतेऽथ तस्मिन्॥
दृष्टा परस्पर हति जैनकजानाम्।
रक्षा ततोऽस्य जगतः खलु धर्म एव॥

भगवान महावीर का तीर्थ वास्तव में सर्वोदय तीर्थ है। किसी भी तीर्थ में सर्वोदयता तभी आ सकती है, जब उसमें साम्प्रदायिकता हिंसा और जाति कुल आदि का अभिमान न हो और यह तभी हो सकता है जब प्रत्येक विचार में अपेक्षा वाद का उपयोग किया जाय और मनुष्य के मन में आग्रह न हो। यह 'सर्वोदय शब्द' आजका नया नहीं है। जैनों के प्राचीन महातार्किक विद्वान आचार्य समन्तभद्र ने सर्वोदय के सम्बन्ध में ठीक ही लिखा है –

सर्वान्तवत् तद्गुण मुख्य कल्पं
सर्वान्तशून्यं च मिथोऽनपेक्षम्।
सर्वापदामन्तकरं निरन्तं सर्वोदयं
तीर्थमिदं तवैव॥

जैनत्व की ये विशेषताएं होने पर भी क्या कारण है कि इसका व्याकरण अत्यन्त सीमित है। जब महावीर की शिक्षाएं सार्वजनिक एवं विश्व हितकारिणी हैं तब वे सर्वमान्य और सर्वादरणीय क्यों नहीं हैं। यह एक प्रश्न है। आज के डेढ़ हजार वर्ष से भी अधिक प्राचीन आचार्य समन्तभद्र के युग में भी यह प्रश्न उपस्थित था और यही कारण है कि उन्होंने इसका उत्तर देने का प्रयत्न भी किया। उन्होंने अपने महत्वपूर्ण स्तोत्रग्रंथ 'युक्त्यनुशासन' में इसका कारण कलिकाल, श्रोताओं का मन स्वच्छ न होना और वक्ता द्वारा धर्मतत्व की व्याख्या के करते हुए नययुक्ति का ठीक प्रयोग न किया जाना बतलाया—

कालः कलिर्वा कलुषाशयो वा।
श्रोतुः प्रवक्तुर्वचनानयो वा॥
त्वच्छासनैकाधिपतित्व लक्ष्मी-।
प्रभुत्वशक्तेरपवाद हेतुः॥

भीतर वास्तविक धर्म की प्रतिष्ठा हुई हो। धर्म एक त्रिकाला बाधित सत्य है। वह किसी सकुचित दायरे मे आबध्द नही है। जाति, वर्ग, लिंग, योनि और क्षेत्र आदि उसकी मर्यादायें नही हो सकती। सम्यक् श्रध्दा, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र रूप रत्नमय ही उसका शब्द गम्य लक्षण है।

किन्तु भगवान की इस दिव्य देशना का आलोक केवल उन्हें ही प्राप्त होता था जिनमें विवेक की ज्योति जागृत हो गयी हो। धर्म को ठीक कहा जाना और उसके वास्तविक रूप को पा लेना ये दोनों चीजें अत्यन्त दुर्लभ हैं धर्म की पात्रता केवल उसे ही प्राप्त हो सकती है जिसकी दृष्टि उदार और विशाल हो मानव मात्र को सहिष्णु उदार और विशाल बनाने के लिये भगवान अपने प्रत्येक प्रवचन मे अपने सापेक्षावाद का उपयोग करते थे। कहते थे जबतक दृष्टि सम्यक् नहीं होती मनुष्य की प्रत्येक क्रिया मिथ्या है। सम्यक्त्व के द्वारा अपनी दृष्टि का सस्कार करने के लिये यह जरूरी है कि मनुष्य अपने जीवन मे आग्रह, हिंसा और जातिवादआदि बुराइयों का अवलेप न आने दे। वह दूषित परम्पराओं से चिपटे रहने की प्रवृत्ति को भी छोड़ दे। धर्म को कभी रूढियों से जीवन प्राप्त करने की स्फूर्ति नहीं मिलती। जो देवमूढ, लोकमूढ और गुरुमूढ होते हैं सचाई उनसे हमेशा दूर रहती है। ऐसे असंस्कारी जब तक विवेक बुध्दि से मनको संस्कृत नही कर लेते धर्म की प्राप्ति नहीं हो सकती। जो धर्म केवल रूढियों से जीता है वह धर्म नहीं निरा पाखड है। धर्म जीवन की वह सचाई है जिसमें माया, मिथ्यात्व और निदान भोगा सक्ति नही होते।

भगवान महावीर के समय में हिंसा, साम्प्रदायिकता और जाति-कुल आदि का अभिमान मनुष्य मे इतना अधिक घर किए हुए था इनको लेकर बात २ में पारस्परिक संघर्ष और कलह हो जाते थे और उनके फल स्वरूप जातियों समाजों और कुटुम्बियों तक में अशांति हो जाती थी। भगवान के सावजनिक प्रवचन इन सघर्षों एव कलहो को दूर करने मे सवरोग हरण औषध की तरह काम करते थे। इन सारे रोगों की उनके पास एक ही चिकित्सा थी- अभ्यतर और बाह्य हिंसा का सर्वथा परित्याग।

धर्म के चाहे कितने ही रूप क्यों न हों अहिंसा उन सब मे ओत प्रोत रहेगी। धर्म-जीवन की एक ऐसी स्फूर्ति है जिसका स्थान ससार की कोई वस्तु नहीं ले सकती और यह प्रेरणा धर्म को अहिंसा

से ही प्राप्त हो सकती है। जिसमें यह स्मृति अथवा प्रेरणा नहीं होती वह पशु है उसमें हिंसा की परम्पराएं प्रज्वलित होती रहती हैं। जब तक मन में धर्म रहता है—अहिंसा रहती है मनुष्य मारने वाले को भी नहीं मारता पर जब वह उसके मन से निकल जाता है औरों की कौन कहे पिता पुत्र की और पुत्र पिता की हत्या करने के लिये भी तत्पर हो जाता है। यह कुकृत्य करते हुए उसे लज्जा का अनुभव नहीं होता। सच पूछा जाय तो धर्म ही जगत की रक्षा करने वाला है। एक जैनाचार्य ने धर्म के विषय में कितना अच्छा लिखा है—

धर्मो वसेन्मनसि यावदलं सतावत्।
हन्ता न हन्तुरपि पश्य गतेऽथ तस्मिन्॥
दृष्टा परस्पर हति जैनकजानाम्।
रक्षा ततोऽस्य जगत खलु धर्म एव॥

भगवान महावीर का तीर्थ वास्तव में सर्वोदय तीर्थ है। किसी भी तीर्थ में सर्वोदयता तभी आ सकती है, जब उसमें साम्प्रदायिकता हिंसा और जाति कुल आदि का अभिमान न हो और यह तभी हो सकता है जब प्रत्येक विचार में अपेक्षा वाद का उपयोग किया जाय और मनुष्य के मन में आग्रह न हो। यह 'सर्वोदय शब्द' आजका नया नहीं है। जैनों के प्राचीन महातार्किक विद्वान आचार्य समन्तभद्र ने सर्वोदय के सम्बन्ध में ठीक ही लिखा है—

सर्वान्तवत् तद्गुणमुख्य कल्प-
सर्वान्तशून्यं च मिथोऽनपेक्षम्।
सर्वापदामन्तकरं निरन्तं सर्वोदयं
तीर्थमिदं तवैव॥

जैनत्व की ये विशेषताएं होने पर भी क्या कारण है कि इसका आकर्षण अत्यन्त सीमित है। जब महावीर की शिक्षाएं सार्वजनिक एवं विश्व हितकारिणी हैं तब वे सर्वमान्य और सर्वादरणीय क्यों नहीं हैं। यह एक प्रश्न है। आज के डेढ़ हजार वर्ष से भी अधिक प्राचीन आचार्य समन्तभद्र के युग में भी यह प्रश्न उपस्थित था और यही कारण है कि उन्होंने इसका उत्तर देने का प्रयत्न भी किया। उन्होंने अपने महत्वपूर्ण स्तोत्रग्रंथ 'युक्त्यनुशासन' में इसका कारण कलिकाल, श्रोताओं का मन स्वच्छ न होना और वक्ता द्वारा धर्मेतर की व्याख्या के करते हुए नययुक्ति का ठीक प्रयोग न किया जाना बतलाया —

काल कलिर्वा कलुषाशयो वा।
श्रोतु प्रवक्तुर्वचनानयो वा॥
त्वच्छासनैकाधिपतित्व लक्ष्मी-।
प्रभुत्वशक्तेरपवाद हेतु॥

इस पद्य में आचार्य ने यही अर्थ व्यक्त किया है।

यह कहना न होगा कि आज भगवान के मानव धर्म की उनके विश्व धर्म की कितनी आवश्यकता है। यह मानव धर्म अथवा विश्व धर्म अहिंसा के अतिरिक्त और कोई दूसरा नहीं हो सकता। अहिंसा पर जोर देने की जितनी आवश्यकता आज है उतनी शायद पहले कभी नहीं हुई हो। इस अणु युग और उद्जन बम के युग में मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट, पतंग, वृक्ष लता, पौधे और स्वयं पृथ्वी तक की रक्षा तभी हो सकती है जब प्रत्येक राष्ट्र के मानस में अहिंसा का यथार्थ मूल्यांकन हो। वह इसे धर्म का गौण रूप नहीं अपितु जीवन की यथार्थता के रूप में स्वीकार करे। आज युद्ध की विभीषिकाएं संसार के सभी राष्ट्रों को परेशान किये हुए हैं। शीत युद्ध तो चलते ही रहते हैं। भौतिक विज्ञान की उन्नति ने मनुष्य को जो शस्त्र दिये हैं शक्तिशाली राष्ट्र उनके बल पर नाच रहे हैं और दूसरों को आतंकित कर रहे हैं। उन्हें जो पुद्गल के अनन्त शक्ति भण्डार का पता लगा है उसके दुरुपयोग पर वे तुले हुए हैं। चारों ओर मानसिक आतंक और भय का राज्य है। लोगों के मन से हिरोशिमा और नागासाकी कभी नहीं निकलता। युद्ध से आतंकित मनुष्य आज सशंक ही सोता है और सशंक ही उठता है और इसका कारण है मनुष्य का स्वार्थ और उसकी उद्दाम हिंसा वृत्ति। जरूरत इस बात की है कि हम 'महावीर' की शिक्षाओं की ओर ध्यान दें और अपनी सम्पूर्ण शक्ति हिंसा की उद्दण्ड प्रवृत्तियों के प्रतिरोध में लगा दें। सम्पूर्ण भारतीय राष्ट्र का आज यही कर्तव्य है। यही कारण है कि हमारे प्रधान मंत्री 'महान नेहरू' भीतर और बाहर हर जगह अपने भाषणों में अहिंसा पर जोर देते हैं।

भगवान महावीर की शिक्षाएं सार्वभौम, सार्वकालिक और सार्वजनीन हैं। चाहे दुनिया में कितने ही परिवर्तन हों, कैसे भी वाद स्थापित हों और भौतिक विज्ञान की कितनी ही तरक्की क्यों न हो, इन शिक्षाओं का महत्व कभी कम नहीं होने वाला है। प्रत्येक भारतवासी का कर्तव्य है कि भगवान महावीर की शिक्षाओं पर चलें और अपने उदीयमान राष्ट्र की उन्नति के मार्ग को प्रशस्त करे।

★ ★ ★ ★

भगवान महावीर की तपश्चर्या

क्रमांक	तप का नाम	संख्या	एकन्दर दिवस	तीस दिन का १ मास से संख्या वर्ष	मास	दिन
१	छ मासी	एक	६×३०×१=१८०	०	६	०
२	छमासी मे पांच दि कम	एक	६×३०−५=१७५	०	५	२५
३	चौ मासी	नव	४×३०×९=१०८०	३	०	०
४	तीन मासी	दो	३×३०×२=१८०	०	६	०
५	ढाई मासी	दो	२॥×३०×२=१५०	०	५	०
६	दो मासी	छह	२×३०×६=३६०	१	०	०
७	डेढ़ मासी	दो	१॥×३०×२=९०	०	३	०
८	मास क्षमण	बारह	१×३०×१२=३६०	१	०	०
९	पक्ष क्षमण	बहोत्तर	½×३०×७२=१०८०	३	०	०
१०	सर्वतोभद्र प्रतिमा	एक	१० दिन की=१०	०	०	१०
११	महाभद्र प्रति मा	एक	४ दिन की=४	०	०	४
१२	तेला (अट्ठम)	बारह	३×१२=३६	०	१	६
१३	बेला (छट्ठम)	२२९	२×२२९=४५८	१	३	८
१४	भद्र प्रतिमा	एक	२ दिन की=२	०	०	२
१५	दिक्षा का दिन	एक	१ दिन=१	०	०	१
१६	पारना	३४९	३४९ दिन ३४९	०	११	१९
			एकन्दर दिन ४५१५	वर्ष १२	माह ६	दिन १५

★ ★ ★

श्री महावीर जयन्ति उत्सव समिति

इन्दौर

आय व्यय पत्रक वीर स. २४८६

६०३.१६	शिल्लक	२८१.२५	डैडस्टाक
४००.००	श्री दि. जैन कपड़ा मार्केट	५७.५९	जनरल खर्च
	सुकृत फंड कपड़ा मार्केट	११७.१७	बिजली लाउडस्पीकर
२००.००	श्री श्वे. जैन मूर्ति पूजक	८८.८७	स्टेशनरी एँड प्रिंटिंग
	सुकृत फंड कपड़ा मार्केट	६.९७	पोस्टेज
१००.००	श्री श्वे. जैन स्थानीय सुकृत फंड कपड़ा मार्केट	५१.७५	तांगा भाड़ा वगैरा
४.४४	श्री जन खर्च खाते जमा म्यु.	२२६.५६	अतिथि खर्च
	से साल ७ के वापस आये	३५.८७	पारितोषण
		८५८.४९	
		४४९.११	शिल्लक
१३०७.६०		१३०७.६०	

रूपचन्द धाकड़
मन्त्री

गुलाबचन्द टोंग्या
अध्यक्ष

★ खुश खबर ★

तार का पता—NAND　　　　फोन—6076

आम जनता को

सस्ते भाव में कपड़ा उपलब्ध हो सके इसके लिये

नंदलाल भंडारी मिल्स लिमिटेड

इ न्दौ र

ने अपनी अथॉराइज्ड रिटेल क्लाथ शाप

इन्दौर, रामपुरा, रतलाम, मन्दसौर, नीमच, जावरा में

खोल दी हैं।

वापरने वाले इन दुकानों से कपड़ा खरीद कर लाभ उठावें।

पता—मे० तेजमल राजेन्द्रसिंह ७, एम० टी० क्लाथ मार्केट, इन्दौर,
मे० ईश्वरदास छोटेलाल, रामपुरा।
मे० घासीराम मोतीलाल, रंगरेज रोड, रतलाम।
मे० सूरजमल फतेचन्द, शुक्रवारिया बाजार, मन्दसौर।
मे० चांदमल शान्तिलाल, घण्टाघर, नीमच।
मे० मालचन्द प्रेमचन्द, महात्मा गांधी मार्ग, जावरा।

सुपरिन्टेन्डेन्ट,
नन्दलाल भण्डारी मिल्स लि., इन्दौर

नवीनीकरण द्वारा उच्च उत्पादन की ओर अग्रसर

दि विनोद मिल्स कंपनी लि.

(दीपचन्द मिल्स सहित)

उज्जैन.

विनोद मिल्स व दीपचन्द मिल्स

सिल्क एण्ड आर्ट्स सिल्क मिल्स

भूपेन्द्र आयर्न एण्ड मेटल वर्क्स

एल्मारनेन्ट काटन वूल फेक्ट्री

जीनिंग व प्रसिंग फेक्ट्री

नरेन्द्र केमिकल वर्क्स

नरेश आईल मील

और

प्रदीप टेप फेक्ट्री

— सोल सेलिंग एजेन्ट्स —

मेसर्स विनोदीराम बालचन्द एन्ड सन्स

★

— अधिकृत विक्रेता —

प्रदीप कुमार अरविंदकुमार

२२, पीपली बाजार,

इन्दौर (म.प्र.)

मंगलमय महावीर के पुनीत जन्म की स्मरण वेला में

★★
★

दि हीरा मिल्स लिमिटेड,
उज्जैन

फोन नं १८ व ११० ★ तार-हीरामिल्स

हेड आफिस व क्लाथ शाप

४३, एम टी. क्लाथ मार्केट, इन्दौर

फोन-६७१० ★ तार-सेरस

सस्ते, सुन्दर और टिकाऊ कपड़े का उत्पादन

हमारी विशेषता है!

★
★★

मैनेजिंग डायरेक्टर

श्री राजाबहादुरसिंह राजकुमारसिंहजी

एम ए., एलएल. बी

फोन नं ७३४३ इन्दौर ★ फोन नं ३४१ उज्जैन

*

प्रतिदिन

७०,००० गज कोरे

एवं

रंग बिरंगे

सस्ते कपड़ों के निर्माता

दि राजकुमार मिल्स लि.

इन्दौर

*

श्री जवरचन्द फूलचन्द गोधा जैन ग्रन्थमाला

के प्रकाशन

श्रावक धर्म संग्रह

लेखक—श्री दरियाव सिंहजी सोंधिया जैन

अजिल्द, सजिल्द मूल्य ४) रुपये

★

रिष्टसमुच्चय

ज्योतिष का अपूर्व ग्रन्थ, लेखक—आचार्य दुर्गदेव

सजिल्द मूल्य ३) रुपये

★

परमज्योति महावीर महाकाव्य

लेखक—कवि सुधेश जैन नागोद

(प्रेस में)

★

— प्राप्ति स्थान —

मैनेजर ज० फू० गोधा जैन ग्रन्थमाला

८, सर हुकमचन्द मार्ग, इन्दौर नगर

(मध्य प्रदेश)

दि कल्याणमल मिल्स लिमिटेड,
इ न्दौ र

अपने कुशल श्रमिकों द्वारा

विगत २७ वर्षों से राष्ट्र की सेवा में सलग्न

— हमारी विशेषताए —

सस्ते, आकर्षक एव टिकाऊ

❀ लाग क्लाथ ग्रे व ब्लीच्ड

❀ रंगीन परमटा व मलमल

❀ कलात्मक डिझाइनो की छींटें

❀ गादीपाट व ग्रे चादर

❀ रगीन फलालल

❀ कोटिंग रगीन शर्टिंग एवं मजरीन

❀ ग्रे एव रगीन ड्रिल्स

❀ धोती जोडे एव साडिया

❀ फेन्सी डाइड पोप्लिन व धुली हुई मलमल

इत्यादि

★

मैनेजिंग डायरेक्टर :

श्री आर० सी० जाल

M A LL B, M L A

इन्दौर (मध्य प्रदेश)

तार—"राज को"

टेलीफोन { मील ६५४७
आफिस ७३८१

न्यू मर्चेंट सिल्क मिल्स

फर्म—मानकलाल राजमल

पलासिया सामने आगरा रोड, इन्दौर म. प्र

आर्टिफिशियल सिल्क के निर्माता

★ क्रेप,

★ साटन,

★ ब्राकेट,

★ चमकी,

★ बुशर्टिंग,

★ नायलोन,

★ डवलियन,

★ बेबीशार्कस्किन

रीगल इन्डस्ट्रीज

१७१, महात्मा गाधी मार्ग (खजूरी बाजार)

इन्दौर

के

३

कार्य

रबर की मोहरों का बड़ा कारखाना

अनेकों नवीन एवं आकर्षक नमूनो मे

लग्न पत्रिकाओं एव निमत्रण कार्डों

का बडा सग्रहालय

हर प्रकार की उच्चस्तरीय कलात्मक

छपाई का कार्य

सतोषप्रद कार्यःसमय पर भुगतान हमारी विशेषता

तार–'टेक्सटाईल्स'   फोन—६३०१, ६३०७, मे. डा ६०६४

सस्ते, सुन्दर व टिकाऊ कपडे का उत्पादन कर गत ४५ वर्षों से
राष्ट्र की निरन्तर सेवा करती हुई।

दि हुकमचंद मिल्स लिमिटेड
इन्दौर

–ःहमारी विशेषताएंः–

- चोल,
- धोती,
- ड्रिल,
- साड़िया,
- प्रिंट्स,
- पोपलीन,
- फेन्सी चेक्स,
- ब्लीच्ड कपड़ा,
- लॉग क्लाथ,
- मच्छरी आदि

एक्सपोर्ट आफिस
२३/३५, चम्पागली, बंबई

कपड़ा दुकान फोन-७०८५
म तु. क्लाथ मार्केट, इन्दौर

दी इन्दौर मालवा युनाईटेड मिल्स लिमिटेड

इन्दौर (मध्यप्रदेश)

टेलीफोन नम्बर ६०६३ तार "MALWAMILL" आफिस
५००७ सेल्स व फाटा
६०६४ क्लाथ शाप "CRESCENT" सेल्स
५४५८
७४१७ } डायरेक्टर्स "MOON", सिटी शॉप

सेलिंग एजेन्टस्

मेसर्स मध्यभारत टेक्सटाईल एजेन्टस्

११५, एम. टी. क्लाथ मार्केट, इन्दौर

प्रात में हमारी सबसे पुरानी सूती मिल होने से कपड़ों की
सर्व श्रेष्ठ किस्मों एवं मजबूती के लिये विख्यात है।

* शर्टिंग * धोती * काली जीन * कोटिंग * ड्रिल
* लाग क्लाथ * साड़ी * मच्छरी * मलमल * चोल

हमारे श्रमिक

हमारे श्रमिकों की सुदृढ़ आर्थिक स्थिति एवं बौद्धिक विकास
के सम्बन्ध में ये आकड़े स्वयं बोलते हैं:—

वे लगभग ३,४०,००० रु प्रतिवर्ष मालवा मिल
कोऑपरेटिव सोसायटी में बचाते हैं।

वे लगभग २४,००० पुस्तकें प्रतिवर्ष पढ़ते हैं।